वसन्त राग

ज्ञानपीठ पुरस्कार द्वारा सम्मानित साहित्यकार

वसन्त राग

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय

वसन्त राग

वसन्त राग

भारतवर्ष के दक्षिण-पूर्वी तट पर पंच-पाण्डवों के पांच रथों तथा विशालकाय प्रस्तर गज-प्रतिमा से सज्जित तीर्थ महाबलिपुरम तथा मद्रास के पास का ही एक स्थान। समय—ईस्वी सन् 1803। मद्रास सिर्फ कहने भर को शहर है; वास्तव में है केवल कुछ ग्रामों का समूह मात्र। इसके दक्षिण-पूर्व में, समुद्रतट से लगा हुआ ही, तपोवन-सा एक आश्रम है—सुन्दर, सुडौल। क्या कहा जाये इसे—मकान? नहीं। तो फिर कुटीर? ना, यह भी नहीं। कुटीर से कहीं अधिक सम्पन्न दिखाई देता है, और मकान से आकार-आयतन सभी बहुत छोटा है। चार प्रस्तर स्तम्भों पर पत्थर की ही छत से छाया हुआ, छः हाथ गुणे बारह हाथ क्षेत्रफल का एक बरामदा है। इससे घिरा हुआ इसी क्षेत्रफल का कक्ष है, जिसे दो भागों में विभाजित कर लिया गया है—एक छोटा, एक बड़ा। सामने घनी वृक्षावली से परिवेष्टित कुछ एक कट्ठा भूमि में एक सुन्दर-सा उद्यान है। कुछ दूर पर नारियल और ताड़-वृक्षों की दीर्घ पंक्ति है, जिसके आगे ही समुद्र की बेला-भूमि है। घन कृष्णाभ-नील सागर-तरंगें श्वेत फेन का मुकुट धारण किये, कल्लोल करती हुई आती हैं, और तट से टकरा-टकराकर लौट जाती हैं। लहरों पर धूप झिलमिला रही है। अविराम कल्लोल ध्वनि से वातावरण मुखरित है।

बरामदे और कक्ष में सज्जा के उपकरण स्वल्प किन्तु सुन्दर तथा स्वच्छ हैं। छोटे कक्ष से कोई दस हाथ दूर ही एक कुटिया है—माटी की कुटी, ताड़-पत्रों से छाई हुई। यह भी वैसी ही सुडौल तथा स्वच्छ है। इसके सामने ही दो हृष्ट-पुष्ट धवलांगी गौएं पागुर कर रही हैं।

आश्रम ही है यह। निर्जन वातावरण में, इस मनोरम, स्वच्छ, स्वल्पायतन घर को आश्रम नहीं तो और क्या कहा जाए? पर आज यह स्थान निर्जन नहीं है। बरामदे तथा बाहर उद्यान में अपार भीड़ है। उत्तेजित, किन्तु दबा-दबा कोलाहल किसी विराट् छत्ते के आसपास उत्तेजना-चंचल मधुमक्खियों के गुञ्जन-सा लग रहा है। सभी मुखर हैं—सभी दबे-दबे स्वर में कुछ न कुछ कह रहे हैं। स्वर दबा है, किन्तु उसकी उत्तेजना उत्तप्त वायु के स्पर्श-सी स्पष्ट है। पर बातें क्या, एक शब्द भी समझना कठिन है। इतने लोगों की एक साथ की हुई बातें आपस में मिल-जुलकर अस्पष्ट हो गई हैं, ऊपर से निकटवर्ती समुद्र की कल्लोल-ध्वनि इन्हें और अधिक दुर्बोध्य बनाये दे रही है। बस, लग रहा है, स्वरों के इस गुञ्जन पर एक

हाहाकार-सा आरोपित है—दबे-दबे कंठ-स्वरों पर भी, और समुद्र की एकरस ध्वनि पर भी।

जनता के पीछे की ओर, आश्रम के प्रवेश-पथ की बाईं दिशा में, जहां दो गायें बंधी हैं—वहां विषण्णता से आच्छन्न, म्लान मुख लिए शूद्र-कन्या लल्ला खड़ी है। लग रहा है मानो प्रखर ताप के क्लेश से मुरझाई लता हो। धूप में मुरझाए हुए पत्तों की तरह उसके अंग-प्रत्यंग पर क्लेश के चिह्न हैं। स्वयं निर्वाक्, वह सुनने की चेष्टा कर रही है—कौन क्या कह रहा है!

आनेवालों की संख्या कम नहीं है। ब्राह्मण भी आए हैं, शूद्र भी—पर वे सभी प्रतिष्ठित, सम्मानित नागरिक हैं। हां, किसी की प्रतिष्ठा अधिक है, किसी की कम। अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति स्वाभाविक रूप से आगे खड़े हैं। लल्ला अकेली खड़ी है—सबके पीछे। सिर्फ वही मौन है—केवल सुन रही है सबकी बातें।

और भी एक व्यक्ति मौन है। अर्द्धशायित अवस्था में चुपचाप पड़े हैं—दक्षिण के विख्यात संगीतज्ञ, सुकंठ गायक, वीणाकार रंगनाथन—वैष्णव संगीताचार्य रंगनाथन। वे भी मौन धारण किए, केवल औरों की बातें सुन रहे हैं। उनके ललाट के घाव पर कसकर पट्टी बंधी है; आंखों पर, चेहरे पर कुछ सूजन है। वे भी मुर्झाए-से हैं।

वे आहत हैं, इसीलिए यहां इतना जन-समागम है। महागुणी आचार्य रंगनाथन स्वर के जादूगर हैं। वंशी-सा मधुर उनका कंठ-स्वर है। यही नहीं, वे स्वयं गीत-रचना करते हैं और स्वयं ही उन्हें स्वरों में बांधकर वीणा के संग गाते हुए घूमते हैं। वे अपने नये गीत बड़े-बड़े मन्दिरों के प्रांगण में जाकर पहले देवताओं को सुना आते हैं, उसके बाद कहीं राजाओं के, धनिकों के निमंत्रण ग्रहण करते हैं। उनके किसी नये गीत की सूचना मिलते ही मंदिरों के पुरोहित उन्हें निमंत्रण भिजवाते हैं। वे निमंत्रण-पत्र को सिर से लगाकर कहते हैं, 'शिरोधार्य—मैं समय पर उपस्थित हो जाऊंगा।' मंदिर के प्रांगण में समारोह की तैयारी होने लगती है। दीपाधार आलोकित हो उठते हैं। सुगंधित धूप-शलाकाएं जलाई जाती हैं। चारों ओर से सहस्र-सहस्र श्रोता एकत्रित हो जाते हैं। नियमानुसार शूद्र तथा अछूत दूर ही खड़े रहकर सुनते हैं। वीणा की प्रथम झंकार ही श्रोताओं को मानो जादू से बांध लेती है। वीणा मंत्रपूत नहीं है, न झंकार में ही कोई जादू है, पर जिन्होंने पहले कभी उनका गायन सुना है, उनके हृदय में पूर्व-स्मृति जाग उठती है; इस नये गीत के प्रथम स्वरों का स्पर्श पाते ही उसी पुराने जादू का प्रभाव उन पर फिर से संचरित होने लगता है। फिर ये आलाप आरम्भ करते हैं। वीणा के स्वरों के साथ मिलकर इनका कण्ठ-स्वर सचमुच ही एक इन्द्रजाल की-सी सृष्टि करता है। स्वर इतना मधुर है, पर साथ ही, कितना बलिष्ठ भी, मानो शहनाई बज रही हो! फिर गीत आरम्भ होता है। गीत भी रंगनाथन की अपनी रचना है। उसमें भी एक नये

ही भाव, एक नूतन भावना का प्रदर्शन है।

सर्वप्रथम ये अपनी कुशल अंगुलियों से वीणा तारों को जगाते हैं—झम्! संगत करने वाले भी मृदंग पर थाप देकर स्वर मिला देते हैं। फिर वे गा उठते हैं—'इस अनादि सृष्टि के आरम्भ में, निस्तरंग शब्द में, प्रथम ध्वनि का जन्म हुआ—नटराज के नूपुरों की झंकार से। विश्व की समस्त ध्वनियां मूलतः संगीत ही हैं। प्रलय-ताण्डव के भीम-भयंकर निनाद से लेकर व्रज की वंशी-ध्वनि, युद्ध-क्षेत्र के आर्तनाद तथा हुंकार से लेकर कुसुम-कुञ्ज में प्रणयी-युगल का मृदु गुंजन, आकाश के मेघ-गर्जन के वज्रनाद से लेकर कोकिल का कुहूरव—सभी की आत्मा में संगीत के स्वर झंकृत हैं। सभी का जन्म नटराज के नूपुर से ही हुआ है। हे नटराज, इसी में से प्रसाद-स्वरूप स्वर तथा संगीत के ये कुछ कण चुन लाया हूं। इन्हें मैं तुम्हारे ही चरणों में अर्पित करता हूं नटनाथ, तुम्हारे ही चरणों में।'

यह उनके हर गीत की, बल्कि सम्पूर्ण संगीत-साधना की ही भूमिका है। चैतन्य के आविर्भाव के पश्चात् से बंगाल में ऐसी भूमिका को गौर-चन्द्रिका कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसका नाम वन्दना है। महाभारत में भी व्यास-देव ने आरम्भ में ही कहा है—

'नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तम्।
देवी सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥'

इस दृष्टि से रंगनाथन महाभारत के अनुरागी तथा अनुसरणकारी हैं।

इसके बाद वास्तविक गीत आरम्भ होता है। वे पुराणों की कथाओं पर ही गीत रचते और गाते हैं—इन्हें कथा-गीत कहना ही उचित होगा। पर कथा-गीतों या गीति-कथाओं से इनमें अन्तर यह है कि ये सफल गीत हैं। रंगनाथन स्वयं ही गीत के मध्य से सूत्रधार की भांति कथा के सूत्र को आगे बढ़ाते चलते हैं। कथा से फिर गीतों पर उतर आते हैं। जितनी देर गीत चलता रहता है, श्रोता मन्त्र-मुग्ध, स्वप्नाच्छन्न-से बैठे रहते हैं। कारो-मण्डल बेला-भूमि से टकराती लहरों की भांति उनके हृदयों में अविराम भाव-तरंगें उच्छ्वसित होती रहती हैं। स्वयं वे लोग ही यह स्पष्ट अनुभव करते हैं। सागर-तटवर्ती मनुष्य समुद्र को बहुत चाहते हैं—वे समुद्र-शंख के अलंकार पहनते हैं, उन्हीं से न जाने कितनी कलाकृतियों की रचना करते हैं; तट-भूमि पर खड़े नारियल के वृक्ष और फल उनकी जीवन-सम्पद् हैं; दुःख-सुख दोनों में वे सागर की बेला-भूमि का आश्रय लेते हैं, समुद्र के कल्लोल में अपने हृदय की प्रतिध्वनि सुनते हैं; समुद्री पवन उन्हें थपकियां देकर सुलाता है, समुद्री तूफान उनके घर-द्वार उड़ाकर विसर्जित कर देता है, समुद्र की नील-कज्जल आभा उनके शरीर को लावण्य से, सुषमा से मण्डित करती है, समुद्र ही उनका जीवनाधार है, उनका रत्नाकर। समुद्र में ही वे अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखने के अभ्यस्त हैं, भले वह भोर का समुद्र हो या दोपहरी का, संध्या का हो या रात्रि

का, उच्छ्वसित हो या शान्त। अपने भावोच्छ्वसित हृदय की उपमा भी उन्हें समुद्र में ही मिलती है। रंगनाथन का गायन सुनते समय उन्हें अपना हृदय निशाकालीन सागर-सा लगता है—केवल तरंगों पर तरंगें उठ गिर रही हैं। चिन्ता की नौकाओं का कहीं चिह्न भी नहीं है। फिर गायन समाप्त होता है। वीणा एक ओर रख देते हैं रंगनाथ। हाथ जोड़कर कहते हैं, 'त्रुटिया, विच्युतियां सब क्षमा करना, प्रभु ! आप सब भी भूल-चूक क्षमा करें। आप श्रोता हैं—मेरे देवता।'

तब इन्द्रजाल टूटता है। समवेत स्वरों में घोष उठता है, 'जय रंगनाथन !'

रंगनाथन हाथ ऊंचा करते हैं—'ना !'

श्रोता विस्मित होकर रुक जाते हैं।

रंगनाथन कहते हैं, 'ना। कहिये—जय विश्वरंगपति रंगनाथन—नटराज शिव की जय !'

यही हैं रंगनाथन—लोकप्रिय, सुन्दर रंगनाथन—मधुर प्रकृति-संगीत-साधक रंगनाथन !

वही गुणी गीतकार रंगनाथन कल मद्रास शहर में एक निमन्त्रण पर गीत सुनाने गये थे। किरातार्जुनीय उपाख्यान गीतों में बांधकर सुनाया था। लौटते समय अज्ञात आततायियों के एक दल ने उन पर आक्रमण करके मस्तक पर आघात किया था और रात्रि के अन्धकार में विलीन हो गये थे। रंगनाथन के संगी किसी प्रकार उन्हें उठाकर यहां तक लाए थे।

एक काष्ठासन पर बिछे बिछौने पर वे मसनद का सहारा लिए अर्धशायित-सी अवस्था में बैठे हैं। हाथ के पास ही वीणा है और एक हाथ वीणा के तारों पर अलस विश्राम की मुद्रा में पड़ा हुआ है। ललाट का घाव स्वच्छ वस्त्र-खण्ड से बंधा है। रक्त की एक शीर्ण रेखा का चिह्न दिखाई दे रहा है। स्राव अभी पूर्ण रूप से रुका नहीं है। सम्पूर्ण मुख-मण्डल पर एक विषण्ण वेदना की छाया है। यही उदास विषण्णता दृष्टि में भी है। वह मानो वातायन के पार, आकाश की नीलिमा में सांत्वना ढूंढ़ने का प्रयास कर रही है। उनकी शय्या के सामने भूमि पर बिछे आसन पर कुछ विशिष्ट व्यक्ति बैठे हैं। उन्हीं के बीच यहां के राज-प्रतिनिधि भी हैं। औरों में, स्थानीय विशिष्ट व्यवसायी, विशिष्ट चिकित्सक आदि हैं। ब्राह्मण पंडित-गण भी हैं—पास ही एक अलग आसन पर।

मृदु स्वर में वार्तालाप चल रहा है। वार्तालाप क्या, एक ही बात ही बात को सब भिन्न-भिन्न रूपों में कर रहे है, 'यह घोर अराजकता है—भीषण अन्याय—बर्बरता की उच्चतम सीमा !'

ब्राह्मण भी यही बात कह रहे हैं, पर उनकी कथन-शैली अत्यन्त कठोर है। वे कह रहे हैं, 'यह पाप है—महापाप ! सब विधर्मी राज-शक्ति की उदासीनता का परिणाम है। पर देवता इसे कभी क्षमा नहीं करेंगे।'

राज-प्रतिनिधि श्रीनिवासन अपने प्रश्न के उत्तर की प्रत्याशा में रंगनायन की ही ओर अभिमुख थे, पर रंगनायन उसी उदास दृष्टि से आकाश को निहारते, निर्वाक् बैठे। ब्राह्मणों की बातें कानों में पड़ते ही भौंहें कुंचित करके श्रीनिवासन ने फिर प्रश्न किया, 'कहिए ना आचार्य, आततायियों में से किसी को आप पहचान पाए थे?'

दीर्घ निश्वास के साथ रंगनायन ने सिर हिला दिया, 'ना।'

'आज पूर्णिमा है, कल त्रयोदशी थी। आकाश भी निरभ्र था। ज्योत्स्ना के स्पष्ट आलोक में भी आप किसी को पहचान नहीं पाये? आश्चर्य!'

पण्डित चिदाम्बरम अब तक मौन बैठे थे। अब बोले, 'आप राज-प्रतिनिधि हैं श्रीनिवासन; ब्राह्मण-प्रकृति को नहीं समझते। रंगनायन ब्राह्मण भी हैं, गायक भी। सम्भवतः कल ज्योत्स्ना के आलोक में भी, भय के कारण इनके नेत्रों के आगे अंधकार छा गया होगा। भय से इन्होंने नेत्र मूंद लिए होंगे।'

बात में व्यंग्य की रणकार स्पष्ट थी।

अब एक खिन्न-सी हंसी के साथ रंगनायन बोले, 'आचार्य चिदाम्बरम चिन्मय होने से अम्बर का रूप भले ही आवृत न हो, किन्तु मृत्तिकाजात कार्पास के वस्त्रों से मानव स्वरूप सहज ही आवृत्त किया जा सकता है। उन्होंने यह सावधानी रखी थी। और मैं भी कुछ अन्यमनस्क था। संगी कुछ पीछे रह गये थे, इसीलिए ठीक से पहचानना सम्भव नहीं हुआ।'

राज-प्रतिनिधि श्रीनिवासन ने कहा, 'उन्होंने आपसे कुछ कहा भी तो था! क्या कहा था?'

'कहा था—यह विकृत व्याख्या कहां से मिली तुम्हें?'

चिदाम्बरम बोले, 'उनका वाक्य-विन्यास—उच्चारण···'

बीच में ही बाधा देकर रंगनायन बोल उठे, 'वे ब्राह्मण नहीं थे, आचार्य! अवश्य ही इस प्रदेश में मूर्ख, ग्रामीण ब्राह्मणों का अभाव नहीं है। उच्चारण आदि से ठीक अनुमान करना कठिन है। पर वे ब्राह्मण नहीं थे।'

चिदाम्बरम बोले, 'सुनकर सन्तुष्ट हुआ, रंगनायन। अपने गीतों में तुमने पुराणों की जो व्याख्या की है, उससे आघात ब्राह्मणों को ही पहुंचा है। तुम्हारा प्रेम, सहानुभूति, सब उन कृष्णांगों के साथ ही है। ब्राह्मणों में भी मूर्ख हैं अवश्य, पर तुम्हारे इस निश्चय से मैं प्रभावित हुआ हूं—इसलिए नहीं कि भय या प्रीतिवश तुमने ब्राह्मणों पर सन्देह नहीं किया, बल्कि इसलिए कि तुमने सच्चे ब्राह्मण की प्रकृति पाई है।'

श्रीनिवासन बोले, 'आप क्या सत्य ही किसी पर सन्देह नहीं करते? कण्ठ-स्वर, आकार-आयतन तो वस्त्र के आवरण में नहीं छिपते!'

कुछ देर मानो सोच-विचार करके ही रंगनायन बोले, 'ना।'

दृष्टि उनकी वातायन के बाहर ही अटकी थी। बाहर गोशाला के पास के खूंटे को थामे शूद्र-कन्या लल्ला खड़ी है, विषण्ण, मुरझाई लता-सी वेदनाच्छन्न मुख पर नयन छलछला रहे हैं। वे उसे पहचानते हैं। यहां से कुछ ही दूरी पर इन लोगों की बस्ती है। इसका कण्ठ बड़ा ही मधुर है। अभी कुछ दिन पूर्व तक चक्षुहीना मां का हाथ थामे गा-गाकर भिक्षा मांगती थी। रंगनाथन के पास नहीं आती थी। भय लगता था—अधर्म का भय, शासन का भय और लज्जा का भय तो था ही। उनके सामने कभी आती भी नहीं थी। दूर से इस सुकण्ठी किशोरी के गीतों की मधुर ध्वनि सुनकर कई बार इनका हृदय चाहा है, पास बुलाकर उसका गायन सुनें, पर सामाजिक अनुशासन और मर्यादा के संकोच ने बरबस रोक लिया है। और दो-चार दिन बीतते न बीतते सारी बात भूल भी गए हैं। एक मास पूर्व समुद्रतट पर इससे एक संक्षिप्त-सी भेंट हुई थी, दो-चार बातें भी हुई थीं। उसके बाद उस ओर जाने का अवसर ही नहीं आया। कल रात भी गाते समय इसे देखा था। दूर, मन्दिर के चबूतरे से हटकर खड़ी जनता की प्रथम पंक्ति में थी यह—दीपदण्ड के सामने ही इसके नेत्रों से बहती अश्रुधारा ने रंगनाथन का ध्यान आकर्षित किया था। आज भी यह आई है, इनके आहत होने की सूचना पाकर। नहीं तो आश्रम के भीतर प्रवेश करके गोशाला का खूंटा पकड़कर खड़े होने का साहस न करती। आज भी इसके नेत्रों में जल छलक रहा है।

श्रीनिवासन बोले, 'इस 'ना' का क्या अर्थ है, रंगनाथन? मैंने जो कहा, कि मनुष्य का कण्ठ-स्वर, आकार-प्रकार आदि वस्त्रों में नहीं छिपता, क्या इसी का समर्थन किया है आपने?'

रंगानाथन बोले, 'माननीय, मैंने आपके दोनों ही वाक्यों का उत्तर 'ना' में दिया है। आपका तर्क उचित है। छद्मवेश में पूरा आकार नहीं छिपता। इसके समर्थन में भी मैंने 'ना' कहा है। और आपने जो पूछा था, कि मुझे किसी पर सन्देह है या नहीं, इसके उत्तर में भी मैं यही कह रहा हूं—ना, मुझे किसी पर भी सन्देह नहीं है।'

चिदाम्बरम बोले, 'उस अज्ञात आघातकारी की असाधुता, और रंगनाथन की साधुता में दोनों ध्रुवों का अन्तर है, श्रीनिवासन। कल पल भर के लिए दोनों ध्रुवों का आकस्मिक संयोग-संघर्ष हो गया था, पर साथ ही फिर दोनों छोरों पर लौट गये। इसीलिए साधुता के उच्चतम शिखर पर विराजमान रंगनाथन ने उन निकृष्ट, असाधु व्यक्तियों को देखकर भी पहचाना नहीं, सुनकर सुना नहीं, जानकर भी नहीं जाना। इस विषय में और अधिक विचार-विमर्श निरर्थक है।'

रगनाथन बोले, 'आचार्य चिदाम्बरम, आपको प्रणाम है। आपका अनुमान अभ्रान्त है। मैं केवल एक ही बात का प्रतिवाद करता हूं, कि मैं साधुता के उच्चतम शिखर पर पहुंच गया हूं। आचार्य, साधुता की चरम सीमा पाने के लिए जिस

पाण्डित्य की आवश्यकता होती है, वह मुझमें नहीं है। मुझे लगता है, उस बिन्दु पर आप खड़े हैं और जो तथ्य मुझे सन्देह नहीं करने दे रहा है, उसे नहीं देख पा रहे हैं। समझ भी नहीं पा रहे हैं। आचार्य, आघात मुझे सच ही लगा है, वेदना भी हुई है, दुःख भी। यह रक्तपात ही इसका साक्षी है। जिन्होंने मुझे मारा, वे ब्राह्मण नहीं हैं, यह भी सत्य है। पर आक्रमणकारी जो भी हो, उन्होंने मुझे मारा क्यों? मैंने तो उन्हें कोई क्षति नहीं पहुंचाई। मेरी तो किसी से कोई शत्रुता नहीं है।'

'तुम उदार—उदार ही क्यों, उदारतम व्यक्ति हो। तुम्हारा विश्वास है कि शबर, चाण्डाल आदि भी ब्रह्मविद् हो सकते हैं!'

'मैंने यह उपाख्यान महाभारत से चुना है, आचार्य! स्वयं महर्षि वेदव्यास ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है। मैंने तो केवल इतना ही किया है कि दो विभिन्न प्रसंगों को एक साथ जोड़ दिया है—किरातार्जुनीय उपाख्यान में भूमिका-स्वरूप धर्मव्याध का प्रसंग भी जोड़ दिया है।'

'पर उसकी व्याख्या तो तुम्हारी अपनी ही है—वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही कृष्णवर्ण धर्म के अन्तराल में भी वास करते हैं। वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही शबर पल्ली में पतितों के मध्य भी वास करते हैं। जो भवानीपति कैलाश-वासी हैं, वे ही इन अछूतों के मध्य भी रहते हैं। उनके कृष्णवर्ण से तुम्हें यदि घृणा होती हो उनके निवास-स्थान की बीभत्स मलिनता, या कटु-गन्ध के कारण यदि उनके निकट जाने में तुम्हें द्विधा बोध हो, तो तुम प्रभु को कभी भी नहीं पहचान पाओगे। ब्राह्मण-तनय, तुम ब्रह्माभिलाषी हो। क्रोध, घृणा और अहंकार के कारण तुम अपनी शिक्षा की अवधि में उन्हें नहीं पा सके। मैं नारी हूं, और अपने धर्म पर अचल हूं। मेरे पति मेरे आराध्य ही नहीं, प्रियतम भी हैं। उनकी सेवा मेरा धर्म ही नहीं, परम धर्म है। इसी धर्म के एकनिष्ठ पालन से मुझे जो आनन्द मिलता है, उसमें और ब्रह्मानन्द में कोई अन्तर नहीं है। इस धर्म का पालन करने के कारण तुम मुझपर क्रुद्ध हुए, परन्तु इस क्रोध से मेरी बिन्दु मात्र भी क्षति न होगी। सुतरां, तुम्हें परम सत्य, परम तत्त्व का ज्ञान व्याध-पत्नी में धर्माराधन करते समय धर्मव्याध से ही प्राप्त होगा। घृणा मत करना; गन्ध से व्याकुल होकर, नासिका कुंचितकर द्वार पर ही मत रुक जाना; भीतर प्रवेश करना। तुम्हें पता है, तपस्या-रत अर्जुन को भवानीपति महारुद्र ने किरात वेश में ही दर्शन दिया था? अर्जुन ने उन्हें किरात मानकर अवज्ञा की थी, घृणा की थी, किन्तु किरात-रूपी भगवान ने उसकी शक्ति का अभिमान चूर-चूर कर दिया था। हिमगिरि के कांचनजंघा की स्वर्णच्छटा से प्रतिभासित स्वर्णकान्ति महादेव जब किरात वेश धारण कर नीलगिरि पर आये, तब उन्होंने सुनील समुद्र का अवगाहन करके निविड़ नीलकान्ति रूप धारण किया।' यही तो तुम्हारी व्याख्या है, रंगनायन!

'यह व्याख्या क्यों भ्रान्त या विकृत है, आचार्य ?'

'यह बात तुमने क्रिस्तान पादरियों से भी पूछी है, रंगनाथन ?'

श्री निवासन बोले, 'इसमें आपने क्रिस्तान पादरियों की बात क्यों उठाई, आचार्य चिदाम्बरम ?'

'राज-प्रतिनिधि होकर भी क्या आपको इसका कारण विदित नहीं है, श्रीनिवासन ? मद्रास के चारों ओर समस्त तेलंगाना में, उधर त्रिवांकुर कोच्चिन तक उन्होंने गिरजों की स्थापना कर ली है। मद्रास में भी उनकी प्रतिष्ठा है। पानीपत के युद्ध के साथ ही महाराष्ट्र की शक्ति क्षीण हो गई थी। जितनी अवशिष्ट थी, नाना फड़नवीस की मृत्यु के साथ वह भी नष्ट हुई। तीन वर्ष बीतते न बीतते पेशवा ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली है। मह़ीशूर के टीपू सुल्तान का स्वर्गवास हो चुका है। टीपू सुल्तान हिन्दू धर्म के प्रतिपालक नहीं थे, किन्तु पादरियों पर भी उन्होंने कठोर शासन रखा था। निजाम भी अक्षम ही हैं। दक्षिण में इस्लाम तीन सौ वर्षों के आधिपत्य के उपरान्त भी सनातन धर्म की कोई क्षति नहीं कर पाया है, किन्तु क्रिस्तान धर्म के प्रसार का परिणाम देखिये। इसके धर्म-प्रसार का कौशल किसी से गुप्त नहीं है। फिर इस प्रकार पथ के सारे कण्टक दूर हो जाने के कारण इनका धर्म-प्रचार और भी सशक्त हो उठा है। इन्होंने अस्पृश्य वर्ग में अपनी स्थिति के प्रति विद्रोह जमाकर उनका विस्तृत रूप से धर्म-परिवर्तन किया है। अतः कारण आप भी जानते हैं, राज-प्रतिनिधि। स्वीकार न करें तो और बात है।'

श्रीनिवासन बोले, 'ये सब बातें राजनीतिक हैं, आचार्य ! मैं अस्वीकार नहीं करता कि मुझे इन आलोचनाओं का अधिकार नहीं है। पर इतना मैं वचन देता हूं, कि अपराधी का सन्धान पाने पर उसे दण्ड अवश्य दूंगा।'

चिदाम्बरम बोले, 'श्रीनिवासन, प्रत्येक कार्य का कुछ कारण होता है पर कारण भी तो स्वयंभू नहीं होता। वह भी किसी पूर्ववर्त्ती कार्य या कारण से उद्भूत होता है। यह आघात अस्पृश्य लोगों ने किया है, और उनको उकसाया है ईसाई धर्म-प्रचारकों ने। रंगनाथन ने अपने गीत में जो व्याख्या दी है, इन पादरियों ने उसे विकृत करके अपने अनुयायियों को समझाया है। यह मुझे निश्चित रूप से पता है। अपराधियों का सन्धान मिलने पर भी तुम उन्हें दण्ड नहीं दे सकोगे, श्रीनिवासन।'

श्रीनिवासन बोले, 'मैं प्रतिज्ञा किए जाता हूं, मैं उनका पता लगाऊंगा और उन्हें दण्ड दूंगा। हां, रंगनाथन को इतना कहना होगा—मैंने इन्हें पहचान लिया है—इनका आकार-आयतन, कण्ठ-स्वर सब वही है—बस। सबके सामने मैं यह शपथ लेता हूं, भले ही इसके लिए मुझे बाद में राज-प्रतिनिधित्व का भी त्याग करना पड़े।'

सब समवेत स्वरों में कह उठे, 'साधु, साधु !'

उस ओर प्रतिष्ठित व्यवसायी गोपालन बैठे थे। वे बोले, 'तीन दिन के अन्दर मैं आपको आततायी का नाम या सन्धान दे दूंगा, श्रीनिवासन। मैं व्यवसायी हूं। मेरी पण्यशालाओं में अनेक कर्मचारी हैं, अनेक लोगों का समागम है। सन्धान पाने में मुझे विलम्ब न होगा। हां, आचार्य चिदाम्बरम ने जो कहा है, वह सत्य है—मैं जानता हूं। आचार्य रंगनाथन ने यह गीत सर्वप्रथम गाया था कांजीवरम में। वहां भी उनकी व्याख्या उच्चवर्गीय, ज्ञानी-गुणी समाज के कई सदस्यों को अप्रीतिकर लगी थी। व्यथित होकर उन्होंने कहा भी था कि यह व्याख्या सब के लिए उचित नहीं है। फिर भी उन्होंने साधुवाद दिया था। किन्तु शबर-समाज इस व्याख्या से क्षुब्ध हुआ है। आप उनके प्रमुख व्यवसायी जोसेफ को पहचानते हैं। वह ईसाई बन गया है, आंग्ल भाषा सीख ली है, फिर भी यह भूल नहीं पाया है कि मूलतः वह शबर ही है। उसने भी सम्भवतः कांजीवरम में यह गीत सुना था। कुछ दिन पूर्व वह मेरे पास नारियल तथा जटाओं की रस्सियां लेकर आया था। हमारे बीच उस समय रंगनाथन के गीत की ही चर्चा चल रही थी। हम सभी एकमत होकर गीत की प्रशंसा कर रहे थे, कह रहे थे—कैसी अपूर्व, कितनी हृदयस्पर्शी व्याख्या है! क्षोभ से जोसेफ की आकृति कठोर हो आई। वह बोल उठा था, 'असत्य, निकृष्ट, नीच, कुत्सित व्याख्या है यह, श्रेष्ठी गोपालन। इसका उद्देश्य यही है कि किसी कौशल से हमारी जाति को हेय सिद्ध किया जाए। हमारी बस्तियों में आकर देखिए, कहां है गंदगी? कहां है दुर्गन्ध? रंगनाथन को ईश्वर की दया नहीं, दण्ड मिलेगा। मैं कहे देता हूं—देखिएगा।' फिर मुट्ठियां भींचकर बोला था, 'हम लोग क्रिस्तान होकर भी जन्म से शबर हैं।' इन बातों पर विचार कीजिए और देखिए, दुर्घटना किस प्रान्त में हुई है? और फिर आघातकारी ब्राह्मण नहीं हैं···'

कक्ष के बाहर बरामदे से कोई बोल उठा, 'ब्राह्मण या शबर को छोड़कर किसी और का यह काम नहीं हो सकता, गोपालन सेठ।'

'कौन? अली नासिर साहब?···'

'हां, मैं ही हूं।'

'आप भी आये हैं! अरे, बाहर क्यों बैठे हैं?'

'भीतर जगह काफी कम है, मैं बाहर ही ठीक हूं। रंगनाथन मेरे प्रिय गायक हैं। मुसलमान होकर भी मैं इनके गीत सुनना पसन्द करता हूं। विष्णुकाँची में रंगनाथन ने जब यह गीत पहली बार गाया था, तब मैं भी व्यापार के सिलसिले में वहीं गया हुआ था। रात भी वहीं रहा था। तभी मैंने शिवकाँची के संन्यासियों के एक दल को इस गीत पर बहस करते सुना था। वे बेहद नाराज थे, और कह रहे थे, वे लोग रंगनाथन को इसकी सजा देकर रहेंगे। वे नहीं चाहते कि वैष्णव धर्म के

दरवाजे इस तरह सबके लिए खोल दिए जाएं। रंगनाथन से इसीलिए वे लोग चिढ़ गए हैं।'

इस वात पर कक्ष के भीतर निस्तब्धता छा गई। शैव-सम्प्रदाय में भी ऐसे अर्द्धोन्मत्त भक्त हैं तो सही।

श्रीनिवासन ने चिदाम्वरम को सम्बोधित किया, 'आचार्य !'

चिदाम्बरम बोले, 'हां, सुना।' फिर कुछ पल मौन रहकर बोले 'असम्भव नहीं है, श्रीनिवासन। हिन्दू-धर्म में विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर विरोध की अग्नि अखण्ड रूप से प्रज्वलित रहती है। रंगनाथन ने धर्म-अग्नि को जो अर्घ्य अर्पित किया है, उससे विरोध की शिखा भी भड़क उठी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अस्तु, अव रंगनाथन को आकार-प्रकार, कण्ठ-स्वर आदि कठिन मार्गों से अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं है। देह की गन्ध से सहज और प्रामाणिक अनुमान लग सकता है। उनके शरीर से एक विशेप प्रकार की गन्ध निकलती है—वैष्णवों की देह से भी। रंगनाथन···'

श्रेष्ठी गोपालन बोले, 'इन अर्द्धोन्मत्त शैव गणों पर सन्देह करके, ईसाई पादरियों और जोसेफ इत्यादि को छोड़ देना अधिक निरापद भी होगा !'

श्रीनिवासन वोले, 'निरापद की वात वाद में देखी जायेगी, श्रेष्ठिवर ! पहले आचार्य रंगनाथन कुछ कहें।'

रंगनाथन वोले, 'गंध कैसी थी, यह भी मुझे स्मरण नहीं है, राजप्रतिनिधि, पर यह भी नहीं कह सकता कि कोई गंध थी ही नहीं। और वे लोग सनातनधर्मी मूर्ख दुर्जनों के दल के नहीं थे, यह भी कैसे कह दूं, आचार्य चिदाम्बरम। मुझे क्षमा करें आप।'

चिदाम्बरम बोले, 'यह तुम्हारे औदार्य के उपयुक्त ही कथन है, रंगनाथन।'

इसी समय एक व्यक्ति ने शीघ्रता से कक्ष में प्रवेश किया और दीवार के सहारे-सहारे तीव्र गति से श्रेष्ठी गोपालन के पास जाकर उसके कान में कुछ कहा। गोपालन चौंक उठे, वोले, 'कहां ? किधर ?'

'वहां गोशाला के पास खूंटा पकड़े खड़ी है।' वातायन की ओर संकेत करते हुए उसने कहा, पर अगले ही क्षण वह भी विस्मित रह गया, 'अरे ! वहीं तो खड़ी थी अभी ! गई कहां ?'

सभी विस्मित होकर पूछने लगे, 'कौन ?—क्या ?'

'जोसेफ के ग्राम की एक कन्या है। लल्ला नाम की एक कन्या, जो गा-गाकर भिक्षा मांगती है ना ? वही। तव से वहीं गोशाला का खूंटा थामे खड़ी थी। आप लोगों की वातें सुनकर मैं भीतर यही कहने आया था—कि वह कहां चली गई ?

आपकी बातों से मुझे संदेह हो रहा था कि जोसेफ की गुप्तचरी है, अब पूर्ण विश्वास हो गया।

राज-प्रतिनिधि श्रीनिवासन शीघ्रतापूर्वक उठकर बाहर गए और पुकारा, 'थिरुमल !'

कोतवाली का कर्मचारी सामने आकर ससंभ्रम अभिवादन करके आदेश की प्रतीक्षा करने लगा।

'देखो थिरुमल, यहां का चप्पा-चप्पा छान मारो—यहां लल्ला नामक कोई शबर-कन्या···'

'वह तो अपनी अंधी मां को साथ लिए गीत गा-गाकर भिक्षा मांगा करती है। यहीं तो थी अभी, वहां गोशाला के पास।'

'खोजो, उसे तुरंत खोज निकालो। किसी को आश्रम के बाहर भेजो—अभी, इसी समय।'

रंगनाथन अस्थिर हो उठे। बोले, 'आचार्य, राज-प्रतिनिधि, यह क्या कर रहे हैं आप लोग ? यहां से मैंने भी देखा था, एक उदास-सी शबर-बालिका गोशाला के पास खड़ी थी। पर अपराध क्या था उसका ?'

राज-प्रतिनिधि बोले, 'मेरे कर्तव्य में बाधा न दें, रंगनाथन ? आप सरल···'

आचार्य बोल उठे, 'सरल नहीं, निर्बोध !'

रंगनाथन को चुप रह जाना पड़ा।

थिरुमल चौकीदारों के साथ लल्ला की तलाश करने लगा। गोशाला के भीतर के मचान पर, बाहर वृक्षों की ओट में वृक्षों की घनी शाखाओं-प्रशाखाओं पर भी दृष्टि फेरकर देखा, कहां गई वह ? एकत्रित जनता में से कई लोगों ने उनका साथ दिया ? किधर ? कहां है ? आश्रम के बाहर भी उसे ढूंढा गया, चारों ओर की दृष्टि-सीमा छान मारी— किधर है ? कहां है वह ?

किसी व्यक्ति ने सुझाया, 'वेला-भूमि तो देखी ही नहीं !'

वहां भी सधावक दौड़ाया गया, पीछे-पीछे कुछ और व्यक्ति भी गए। पर सारा वालुका-तट निर्जन था। चारों ओर केवल शंख-सीपियां बिखरी थीं। दूर-दूर तक के प्रदेश के निर्बाध दर्शन होते थे। क्षितिज तक मानो रिक्तता का विस्तार हो। घन-नील समुद्र आ-आकर तट पर पछाड़ें खा रहा था। अनियंत्रित, धृष्ट पवन हाहाकार-सा वहन किए चल रहा था। कुछ लोगों ने तटवर्ती नारियल-वृक्षों के झुरमुट में भी खोजा, पर कहां ? वह तो कहीं भी नहीं है।

श्रीनिवासन बोले, 'मैं इसका प्रतिकार करके रहूंगा। अपराधी जो भी हो—उन्मादी शैव, या क्रिस्तान धर्म प्रचारकों को उकसाया हुआ निर्बोध जोसेफ—उसे मैं दंड अवश्य दूंगा—सबके सामने देवता की शपथ लेता हूं।'

आचार्य चिदाम्बरम बोले, 'श्रीनिवासन, देवता और धर्म इस संकल्प के पालन

में तुम्हारे सहायक हों। हां, रंगनाथन !'

'आचार्य !'

'तुम्हें दृढ़ चित्त होना होगा।'

'मैं जो भी कहूंगा, सत्य कहूंगा, आचार्य। सत्य से बढ़कर दृढ़ और क्या होगा ?'

'हां, रंगनाथन, महाभारत में लिखा है—धर्मराज ने उच्च स्वर में 'अश्वत्थामा हतो' कहकर मंद स्वर में 'इति गज' कहकर सत्य-पालन के नियम की रक्षा की थी, पर धर्म ने उन्हें क्षमा नहीं किया। नरक-दर्शन उन्हें करना ही पड़ा। यह स्मरण रखना। चलिए, श्रीनिवासन।'

श्रीनिवासन बोले, 'यहां दो रक्षकों को नियुक्त कर जाऊं ?'

रंगनाथन हाथ जोड़कर बोले, 'क्षमा करें, राज्य-प्रतिनिधि। इससे मेरी मृत्यु ही अधिक श्रेयस्कर होगी।'

विस्मित श्रीनिवासन को अपनी ओर देखते पाकर रंगनाथन आगे बोले, 'इस तरह कितने दिन तक मेरी रक्षा करेंगे आप ? मैंने आपके असम्मान के उद्देश्य से यह बात नहीं कही थी। आप स्वयं विचार कर देखिए।'

श्रीनिवासन ने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रहरियों को लेकर वे चले गए। श्रेष्ठी गोपालन और आचार्य चिदाम्बरम ने भी उनके साथ ही विदा ली। फिर क्रमशः आश्रम प्रायः जनशून्य हो चला।

रंगनाथन आश्रम में एक प्रकार से अकेले ही रहते हैं। उनका जीवन भी विचित्र रहा है। ब्राह्मण-संतान होने पर भी वे पंडित या शास्त्रविद् नहीं हैं नितांत बाल्यकाल में ही माता-पिता को खोकर अनाथ हो गए थे। एक वैष्णव साधु ने ही इनका पालन-पोषण किया। रंगनाथन का मधुर कण्ठ-स्वर तथा संगीत के प्रति इनका जन्मगत अनुराग तथा अधिकार देखकर ही वे इनकी ओर आकृष्ट हुए थे। उन्होंने ही इनको संगीत की शिक्षा दी और पुराणों की कथाएं सुना-सुनाकर पुराणों में भी पारंगत कर दिया था। फिर इन्हें भेजा था कर्णाटक संगीत के एक कर्णधार के पास। ये संगीतज्ञ उन वैष्णव साधु के भक्त थे। ये भी बालक के संगीतानुराग तथा सुकंठ पर तो मुग्ध हुए ही, उससे भी अधिक मुग्ध हुए उसके हृदय में ममता की तृष्णा को देखकर। ममता का भूखा बालक, पाने को ही नहीं, देने को भी आतुर था। क्रमशः इनमें संगीत-रचना की शक्ति स्फुरित हुई। अब ये यौवन में चरण रख चुके थे। संगीत-गुरु ने इन्हें विदा दी— वैष्णव गुरु के पास भेज दिया। इन्हें कह दिया, अब आगे अपना पथ ये स्वयं ही बना लेंगे। इन्हें आवश्यकता केवल जीवन के किसी आधार की होगी।

बात सत्य ही थी। एक गायन के समय को छोड़कर शेष सारे समय रंगनाथन एक निरविच्छिन्न उदासी में मग्न रहते। वैष्णव-गुरु एक दिन इस उदासी का कारण पूछ ही बैठे।

तरुण रंगनायन ने उत्तर दिया, 'पता नहीं, प्रभु। संभवत:....'

'संभवत: ?'

'कह नहीं सकता, प्रभु। अपने-आपको घोर एकाकी अनुभव करता हूं।'

'तुम गृहस्थ बनो, रंगनाथन। मैं अपने गृही शिष्यों से कहूंगा, तुम्हारे लिए कोई सुन्दरी सुशील कन्या खोजें।'

हाथ जोड़कर रंगनायन ने कहा, 'नहीं, प्रभु।'

'क्यों ?'

'गृहस्थ होने की क्षमता मुझमें नहीं है, मुझे भय लगता है।'

'भय ?'

'हां प्रभु, बड़ा भय लगता है। आप मेरे पालक हैं, गुरु हैं। आपके सामने झूठ नहीं बोलूंगा।'

एक दीर्घ मौन के बाद गुरु ने पूछा, 'तुम्हें कौन-सी वस्तु सबसे अधिक उल्लसित करती है, बोलो तो ? सोच-समझकर, भली-भांति आत्म-निरीक्षण करके कहना। क्या कभी भी, किसी भी पल तुम्हें इस उदासी से मुक्ति नहीं मिलती ? क्या पल भर के लिए भी कभी तुम्हें सुख या आनंद की अनुभूति नहीं होती ?'

कुछ क्षण सोच-विचार के पश्चात् रंगनायन बोले, 'हां प्रभु, संगीत-गुरु के साथ मुझे कई बार बड़े-बड़े संगीत-समारोहों में गाने का भी अवसर मिला था। जब मेरे गायन पर मुग्ध-विभोर श्रोता मुझे साधुवाद देते थे, तब लगता था, मैं सत्य ही सुखी हूं।'

'एकांत में क्या कभी आनंद का अनुभव नहीं होता ?'

'होता है प्रभु, पर वह स्थिति बड़ी विचित्र है। रोने से मुझे सुख मिलता है। जब कभी बैठे-बैठे मुझे ध्यान आ जाता है कि मेरा कोई नहीं, तब अपने आप नयनों से जल झरने लगता है। और भी एक कारण से मुझे रोना आ जाता है—मनुष्यों का दुःख देखकर।'

गुरु का मुख उज्ज्वल हो उठा। बोले, 'यह मेरा अंतिम प्रश्न है। बोलो रंगनायन, जब तुम पर कोई विपत्ति आती है, दुःख असह्य हो उठता है—तब किसको पुकारने को हृदय चाहता है ? किसकी याद आती है ? किसके पास दौड़ जाने को व्याकुल होते हो ?'

'कह नहीं सकता। हां, विपत्ति पड़ने पर पहले आपका ही स्मरण होता है; लगता है, आपके पास आकर ही मुझे दुःख से छुटकारा मिल जाएगा। पर दुःख जब बहुत ही गंभीर होता है, तब तो किसी की भी याद नहीं आती। लगता है, मैं

निपट एकाकी हूं, मेरा कोई नहीं है।'

कुछ दिन पश्चात् गुरु ने इन्हें बुलाकर कहा, 'रंगनाथन, इन कुछ दिनों में मैंने तुम्हारे ही विषय में चिंतन किया है। तुम्हारे जीवन का आधेय अमृत है, पर इसे संभालने के लिए स्वर्णपात्र तुम्हें नहीं मिलता। इसीलिए तुम इतने दुःखी हो तुम्हें आनंद अपने गायन की प्रशसा से मिलता है। तो गायन ही तुम्हारा कर्म क्यों न हो? तुम्हें प्रशंसा मिलेगी, प्रतिष्ठा भी। अपने सारे श्रेय यदि तुम प्रभु-चरणों के स्वर्ण-पात्र में संचित कर सको, तो इसी जीवन में तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी।'

वही साधना करते आ रहे हैं रंगनाथन। उनकी एकाकी जीवन-यात्रा की संगिनी उनकी वीणा है। उनके साथ संगत करने वाले वादक भी हैं, पर वे आवश्यकता पड़ने पर ही आते हैं। शेष समय रंगनाथन अकेले ही रहते हैं—वैसे एकदम अकेले भी नहीं। वृद्ध परिचालक कुडुमुनी भी साथ रहता है।

संगीत के बल पर इन्हें ख्याति मिली है। इनका गायन सुनने के लिए सहस्रों श्रोताओं का जमघट लग जाता है। उन सबकी मुग्ध दृष्टि देखकर इनका हृदय आनन्द से भर जाता है। गुरु की बातों का स्मरण होता है। नेत्र मूंदकर मन्दिर की ओर अभिमुख होकर कहते हैं—'तुम्हीं को सब अर्पित करता हूं।' गायन समाप्त करके प्रसादी माला लेकर लौटते हैं। धनियों के घर से सम्मान के साथ-साथ यथेष्ठ अर्थ प्राप्ति भी होती है। पर घर लौटने के पथ में ही यह आनन्द घुलने लगता है। घर में प्रवेश करके वीणा रखने के साथ ही साथ वह पुरानी उदासी फिर घेर लेती है। अन्यमनस्कता से आक्रान्त अवस्था में ही उनकी मध्यमा अंगुली कभी वीणा के तारों पर मृदु आघात कर उठती है। उनके मन में भी मानो प्रतिध्वनि उठती है—मेरा कोई नहीं है। प्रभु की प्रतिमा का स्मरण करने की चेष्टा करते हैं, पर नयनों के सामने तैर उठती है—मुग्ध दर्शकों की प्रशंसा-भरी दृष्टि। कभी-कभी किसी दुःखी जन की भी याद आ जाती है—कोई भिक्षुक, कोई पीड़ित व्यक्ति। इन्हीं के मध्य नारी मुखाकृतियां भी हैं, पर किसी विशेष नारी की ही स्मृति हो, ऐसी बात नहीं है। इधर कुछ समय से इन शबरों का दुःख हृदय को मथ रहा है। कुछ दिन पूर्व ये महाबलिपुरम के समुद्र-तट के साथ-साथ उत्तर की ओर यात्रा कर रहे थे। हिमाचल के आंचल में छाये घने कुहासे तथा हिम की भांति उदासी ने इन्हें आच्छन्न कर रखा था, इनके हृदय को मानो जमा डाला था। वेदना के इस असीम भार से व्याकुल होकर रंगनाथन एक दिन रात भर रोते रहे थे। अगली प्रातः तुषाराच्छन्न जीवन तथा निर्मल मानसाकाश लिए, महाभारत का परायण करने बैठे थे। सावित्री की कथा ने आकर्षित किया था। इसका मुख्य कारण था, मद्रराज अश्वपति की महीयसी कन्या सावित्री का चरित्र। रंगनाथन जा रहे थे

माल्यवान पर्वत स्थित पम्पासर का दर्शन करने उसमें स्नान करने। इच्छा थी, वहीं बैठकर सावित्री के उपाख्यान को लेकर कथागीत की रचना करेंगे। वही तो वह महिमामयी भूमि है, जहां कृष्ण-चतुर्दशी के घन अन्धकार में मृत सत्यवान का सिर गोद में लिए बैठी सावित्री ने अपने नेत्रों से, कृष्ण ज्योतिर्मण्डित मृत्यु देवता के दर्शन किए थे। रंगनाथन ने सोचा था, गहन वन में रात्रि व्यतीत करेंगे; वहीं वीणा की झंकार के साथ स्वर तथा शब्दों की गीति-माला गूंथेंगे। पर यह हुआ नहीं। यात्रा मध्य में ही स्थगित कर, उन्हें आश्रय मिला था एक शबर पल्ली में। समुद्र में प्रबल झंझा उठी थी। देखते-देखते आकाश घन अन्धकार से आच्छादित हो आया और प्रचण्ड आंधी चलने लगी। वेलाभूमि की बालुका के तीव्र झपाटे आ रहे थे। ताड़, नारियल आदि वृक्षों के शीर्ष खण्डित हो गए। अन्य वृक्षों के पत्ते छिन्न-विछिन्न हुए उड़ रहे थे, शाखाएं टूट-टूटकर गिर रही थीं, और कुछ वृक्ष तो समूल ही उखड़कर पास के अन्य वृक्षों पर जा गिरे थे। समुद्र की क्रुद्ध, पर्वताकार तरंगें वेला-भूमि को पार कर स्थल-भाग पर पछाड़ें खा रही थीं। रंगनाथन समुद्र की ओर पीठ फेरकर, आत्मरक्षा के लिए स्थल-प्रान्त के भीतरी भाग की ओर चलने की चेष्टा करने लगे। बड़े कष्ट के बाद एक शबर-पल्ली के दर्शन पाकर कुछ धैर्य बंधा था। दिन का प्रकाश कुछ अवशिष्ट था, नहीं तो सम्भवत. यह सन्धान भी न मिलता। निम्न पर्वतीय अंचल था। छोटे-छोटे वृक्षों का घना वन था। उसी के बीच पगडण्डी पर यथासाध्य द्रुत गति से चलते-चलते अचानक ठोकर खाकर संज्ञाहीन हो गिर पड़े थे। चेतना लौटने पर स्वयं को टोडा जातीय शबरों की बस्ती की एक छोटी-सी कुटी में पाया। आंधी थम चुकी थी। छोटी-सी, पन्द्रह-बीस घरों की बस्ती थी—तृण से छाई झोंपड़ियां। निवासी थे सरल, कृष्णकाय नर-नारी। वन ही इनका जीवन-सम्बल था। इनके दक्षिण-वासी बान्धवों को रंगनाथन ने देखा था। यहां उत्तर में इनके रूप में कुछ अन्तर आया है। स्त्रियां शरीर के ऊपरी भाग को ढकती हैं, पर कन्धा खुला रहता है। पुरुष नाम-मात्र के वस्त्र पहनते हैं—कमर से घुटनों तक—कई तो वह भी नहीं, केवल कौपीन से काम चलाते हैं। जब रंगनाथन के नेत्र खुले तब देखा, सिरहाने एक वृद्धा बैठी थी। उन्होंने तमिल में ही पूछा, 'तुम लोगों ने ही मुझे बचाया है?'

प्रौढ़ा का मुख आनन्द से उज्ज्वल हो उठा। वह कुछ बोल नहीं सकी। रंगनाथन के स्वस्थ होने की खबर पाकर दल का मुखिया आया। उसने कहा, 'बचाया तुम्हें भगवान ने है। हमने तो तुम्हें राह में बेहोश पड़ा पाया था। तुम्हारे बचने की हमें आशा नहीं थी।'

मुखिया के पीछे ही दल बांधकर बस्ती भर के लोग आ खड़े हुए थे। हर व्यक्ति की दृष्टि में आनन्द तथा ममता छलक रही थी। अचानक पीछे से एक तीक्ष्ण-क्रुद्ध चीत्कार सुनाई दिया। किसी नारी-कण्ठ का चीत्कार था, 'या रक्त,

रक्त'''उस का रक्त ले ! हमारा रक्त क्यों लिया ? ले'''ले'''छोड़ !'''रास्ता छोड़ !'

मुखिया चकित होकर बोल उठा, 'अरे, अरे, उसे ले जाओ। यहां कैसे आ गई ?' फिर रंगनाथन के विस्मित मुख को देखकर बोला, 'पागल है।'

सारी रात चीखती रही थी वह लड़की। आतंकित भयातुर चीख, मानो आततायियों का एक दल उस पर आक्रमण करने आया हो।

मुखिया ने वीणा लाकर सामने रखी, 'यह तुम्हारे पास ही पड़ी हुई थी।'

'हां, मेरी ही वीणा है। टूट गई है, अब बजेगी नहीं। अक्षत होती तो मैं गीत सुनाता। तुम लोगों ने मेरे प्राण बचाए हैं।'

'गीत !' मुखिया के चेहरे पर आनन्द उद्भासित हो उठा, 'तुम गाते भी हो ?'

'हां।'

'हमें सुनाओगे ? हम लोगों को गाना सुनना बहुत अच्छा लगता है।'

'तुम लोग नहीं नाचते-गाते ?'

'नाचते-गाते थे। वो पगली लड़की ही सबसे सुन्दर नाचती थी। वह मेरी ही पुत्री है, पर अब पागल हो गई है। हर समय चीखती रहती है। अभी भी देख लो रात भर चिल्लाएगी। बीच-बीच में नींद आती है, पर अचानक नींद टूट जाती है और वह फिर चिलाने लगती है—'आए ! आए ! छोड़'''छोड़ दे !' उस पर बड़ा जुल्म हुआ है। अगर मर ही जाती तो'''

रंगनाथन क्या उत्तर दें ? क्या कहें ? निर्वाक् बैठे रहे। कुछ क्षण बाद बोले, 'बिना वीणा के ही गाऊं ? सुनोगे तुम लोग ?'

'गाओ, गाओ। वह भी सुनेगी।'

उन्होंने गाया था—छोटा-सा एक कथा-गीत। रामायण का प्रसंग था—गुहक चाण्डाल के साथ रामचन्द्र की मिताई। वह पगली भी शान्त बैठी सब सुन रही थी। सबके पीछे बैठी थी। अद्भुत सुन्दरी कन्या थी—नितान्त तरुणी—बीस वर्ष से भी कम आयु होगी।

गीत समाप्त होते ही वह हठात् पूछ बैठी, 'लोगों ने रामचन्द्र का घर नहीं जला दिया ?'

मुखिया ने उद्विग्न होकर उसका हाथ पकड़ लिया, 'उन्नि, उन्नि—बोलो, सीता राम, सीता राम ! ऐसी बात नहीं कहते। सीता राम !'

'हां, सीता राम, भगवान !'

'हां, भ-ग-वा-न !'

'भगवान दुःख नहीं देते, जबर्दस्ती जुल्म नहीं करते। आदमी'''आदमी करता है।' फिर अचानक चीख उठी, 'मर जा, आदमी मर जा !'

रात को रंगनायन ने पूछा, 'उन्नि ने ऐसा क्यों कहा ?'

मुखिया ने सारा वृत्तान्त बताया। यह ग्राम उनका मूल वास-स्थान नही है। समुद्रतट के निकट ही, शहर मे कुछ ही दूर उनकी बस्ती थी। कोई पचास परिवार थे। अत्याचार उन पर होते ही थे। पर विगत दो वर्षों से मरहट्टा, निजाम, अंग्रेजों आदि का युद्ध चल रहा है। इसी युद्ध में उनका ग्राम चार बार जला दिया गया—दो बार जलाया मराठों ने, एक बार अंग्रेजों ने, एक बार निजाम ने। जिसके भी पथ में यह ग्राम आया, उसीने अत्याचार किया। इस कन्या उन्नि को वे लोग पकड़कर ले गए थे। तीन दिन बाद जब छोड़ा, तो वह विक्षिप्त हो चुकी थी। रात्रि होते ही चीखने लगती, 'नही'''नही'''नही ! छोड़ दे ! छोड़ दे ! मार'''मार डाल !' रात भर यही क्रम चलता। दिन में भी किसी भी अपरिचित को देखते ही भागकर छिप जाती है। यदि वह आगन्तुक यहीं ठहर जाता है, तो चिल्लाती है, 'रक्त ले, रक्त ले ! उन्होंने हमारा रक्त क्यों लिया ?' चार आक्रमणों मे उन लोगों ने इनके ग्राम के बीस से भी अधिक व्यक्तियों को कोंच-कोंचकर मारा है। वह भी इसने देखा है। तभी से वह ग्राम छोड़कर इन लोगों ने इस वन मे आश्रय लिया है। अभी ठीक से घर भी नहीं बना पाए, किसी प्रकार झोपड़िया बना रखी हैं। अब भी सभी कहते हैं—'यहा भी नही, वन के और भी अन्दर चलो, जहां कोई भी हमारा पता न पा सके।'

रंगनायन के नेत्र भर आए। रात भर वे सो न सके। माल्यवान-पम्पासर की यात्रा का विचार उन्होंने स्थगित कर दिया। अगली प्रातः उन लोगों से विदा लेकर वे मद्रास प्रान्त मे अपने आश्रम में लौट आए।

मन मे उन्ही बातो का चक्र चल रहा था। ये सरल प्राणी हैं—दीन, वंचित, पदावनत। क्यों ? इनके ऊपर इतना अत्याचार क्यो ? इतनी अवज्ञा क्यों ? इतनी घृणा किसलिए ? महाभारत की बात याद आई।

महाबलिपुरम में प्रस्तर-खण्ड पर खुदी हुई अर्जुन की तपस्या की कथा याद आई।* अर्जुन के तप से तुष्ट होकर स्वयं महारुद्र किरात वेश मे अवतरित हुए थे। साथ ही पधारी थी—किरातिनी के वेश में स्वयं पार्वती। इसी कथा के अवलम्बन पर गीत रचना करके वे सिद्ध करेंगे कि ये लोग महारुद्र के ही वंशधर हैं। ये अस्पृश्य नहीं हैं, विपुल शक्ति के अधिकारी हैं। फिर स्मरण हुआ था धर्मव्याध की कथा का—जिनके पास ब्राह्मण-कुमार कौशिक ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने गए थे। इस कथा का भी कुछ अंश जोड़ दिया था।

कौशिक को व्याध के पास जाने का निर्देश दिया था एक पतिता नारी ने।

---

*अब पता चला है कि यह चित्र भगीरथ की तपस्या का है। 19वीं शताब्दी मे इसे अर्जुन का ही चित्र माना जाता था। —लेखक

उसीने कहा था, 'मन में घृणा लेकर मत जाना। स्मरण रहे, इन कृष्ण-वर्ण मनुष्यों के अन्तर-मन्दिर में भी उन्हीं प्रभु का निवास है, जो सर्वोच्च स्वर्ग—गोलोक—में निवास करते हैं।' यही थी उस कथागीति की भूमिका, और उपसंहार में भी कुछ विस्तार से यही लिखा था। लौटने के पथ में ही रचना आरम्भ हो गई थी। लौट-कर इसे पूरा किया भावावेश में भरकर रोते हुए। इस रचना के निर्माण-काल में भी इन्हें एक दिन उसी शवर-कन्या लल्ला का दूरागत संगीत सुनाई दिया था। प्रभु का स्तव-गान करती हुई भिक्षा मांग रही थी। विचित्र कन्या है! सुना था, जोसेफ की भतीजी है—ज्येष्ठ सहोदर की पुत्री। यह व्यवसाय लल्ला के पिता का ही आरम्भ किया हुआ था। जोसेफ तब क्रिस्तान नहीं हुआ था, वैसे पादरियों के पास उसका यातायात कई दिनों से चल रहा था। गिरजे से संलग्न उद्यान में वह काम करता था। परिवार से झगड़कर भाग आया था। फिर लल्ला के पिता की मृत्यु के बाद गांव लौटकर उसने ज्येष्ठ भ्राता का व्यवसाय संभाल लिया था। चार-पांच वर्षों में ही उसने व्यवसाय को समृद्ध बना डाला था। अब सब कुछ उसी का था। इसी बीच वह स्वयं भी क्रिस्तान हो गया था और ग्राम के और भी अनेक लोगों को इसके लिए प्रलुब्ध किया था। मद्रास में कम्पनी की नौकरी का प्रलोभन भी बड़ा था। साथ ही और भी तो कितनी वस्तुएं मिलती थीं—पोशाक, मर्यादा सभी कुछ। हिन्दू-समाज के माननीय सदस्यों की—जिनके साथ एक पथ पर चलने का अधि-कार नहीं था, जिनकी देह पर अपनी छाया तक पड़ने देना अक्षम्य अपराध था—उनकी उपेक्षा करने का, उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार पाकर वे उल्लास से प्रमत्त हो उठे थे। मुक्ति भी मिली ही। ग्राम में पादरियों की पाठशाला खुल गई थी। ग्राम के बालक-बालिका शिक्षा पाने लगे थे। उन्हीं में लल्ला भी थी। मां की आपत्ति के कारण उसने धर्म-परिवर्तन नहीं किया। नहीं तो···। ना, ना, वह नहीं। उसका गीत सुनकर ऐसा तो नहीं लगता। लड़की सुकण्ठी है, और उस टोडा तरुणी उन्नि से कहीं अधिक [illegible]त्रती। एक प्रकार की परिष्कृत शालीनता है इसमें—शिक्षा का संस्कार, नगरवास का परिष्कार। यही किशोरी—क्या सत्य ही यहां गुप्तचरी बनकर आई थी? उसके नयनों में छलकता जो जल इन्होंने देखा था, वह क्या शान्त, निस्तरंग समुद्र पर विषण्णता का आभास आरोपित कर बैठने जैसी भूल थी?—कल्पना थी? स्वेच्छाकृत भ्रम था? जोसेफ से ये अपरिचित नहीं हैं। उसके साथियों से भी परिचित हैं। प्रायः ही तो वे इनका गायन सुनने के लिए आश्रम के सामने की वेला-भूमि पर आकर बैठ जाते हैं। दृष्टि मिलते ही प्रसन्न हास्य से खिल उठते हैं। उन लोगों के मुख और नेत्रों में मानो दीपक जल उठते हैं। अपने असीम स्नेह को वे अनेक प्रकार से व्यक्त करते हैं। आश्रम के बांस के फाटक के पास कभी रख जाते हैं पुष्प-गुच्छ, कभी कच्चे, हरे नारियल, परिपुष्ट केले और ऋतु में आम्रफल भी। बांस की नई डलिया में सब वस्तुएं सजा कर, आकर

पुकारते हैं, 'आचार्य, आचार्य !'

सुनते ही ये बाहर आकर बोलते हैं, 'आओ, मेरे यहां संकुचित होने का कोई कारण नहीं है। आओ।'

वे लोग स्मित हास्य के साथ अपनी डलिया भूमि पर रखकर बोलते हैं, 'हमारे वृक्ष के फल हैं, आपके लिए लाए हैं।'

ये उन वस्तुओं को उठाकर बोलते हैं, 'आज मेरे देवता परम तृप्ति से भोजन करेंगे, भद्र !'

रंगनाथन उन लोगों को सदा 'भद्र' कहकर ही सम्बोधित करते हैं।

हां, यह आदान-प्रदान अधिकतर क्रिस्तान शबरों के साथ ही होता है। क्रिस्तान भी इनके यहां आते हैं, जोसेफ भी आया है। एक बार नारिकेल रज्जु का सुन्दर-सा पांवपोश बनाकर देने आया था। उसका कण्ठ-स्वर संकोचहीन होते हुए भी सहज नहीं था, मानो संकोच का वर्जन सायास हो, कुछ अस्वस्तिकर भी। उसने पुकारा था, 'संगीताचार्य हैं !'

'कौन ?'

'मैं, जोसेफ।'

'आओ, आओ।'

'तुम्हारे लिए पांवपोश लाया हूं। देखो, सुन्दर बना है ना ?'

'बहुत सुन्दर है, भद्र !'

'मुझे भद्र क्यों कहते हो ? जोसेफ कहो।'

'ठीक है, वही कहूंगा।'

'हां, अब तो मैं एक क्रिस्तान जेण्ट ठहरा। जानते हो ना ?'

'हां।'

'मैं तुम्हें संगीताचार्य रंगनाथन कहूंगा। बुरा तो नहीं मानोगे ?'

'ना, ना, बुरा क्यों मानूंगा ?'

'इसीलिए तो तुम्हारे लिए कुछ लाने का मन भी करता है। उन सब ब्राह्मण आचार्यों को मैं कुछ नहीं देता।' कुछ देर बाद बोला, 'जानते हो संगीताचार्य, तुम्हारा गायन सुनने की इच्छा होती है, पर हम लोग तो प्रभु यीशु की पूजा करते हैं। इसीलिए भय लगता है कि प्रभु यीशु रुष्ट हो जाएंगे। पादरी बाबा नाराज होंगे, यह तो निश्चित है। नहीं तो एक दिन तुम्हें नियम से दक्षिणा देकर कथा-गान सुनता। तुम आते ?'

इन्हें कुछ सोचना पड़ गया था। जाने पर सम्भवतः उच्चवर्ण के समाज का, देव-मन्दिर का भी प्रवेश-द्वार रुद्ध हो जाता।

जोसेफ बोला, 'मैं जानता हूं आचार्य, तुम स्वयं तो आना चाहते हो, पर मेरी ही तरह तुम्हें भी इन पण्डित-पुरोहितों का, समाज-पतियों का ध्यान रोक लेता है।

यही सोच रहे हो ना ?'

'हां जोसेफ, यही सोच रहा हूं।'

'जाने दो, आचार्य ! दूर से ही सुनूंगा तुम्हारे गीत। पर तुम अपने गीतों में वहुत रुलाते हो।' उसके काले चेहरे पर दो सुन्दर, सुगठित, शुभ्र, चमकती दंत-पंक्तियां खिल उठीं। वोला, 'हम लोग हंसना अधिक पसन्द करते हैं।'

वह उठकर चल दिया, पर फिर जाते-जाते लौटकर बोला, 'अच्छा, एक बात वतलाओगे ?'

'क्या ?'

'हम हंसना पसन्द करते हैं, तुम्हारा गाना सुनकर रुलाई आती है। फिर भी हम आ-आकर सुनते हैं। उस रोने में भी सुख मिलता है क्यों ? बताओ तो !'

रंगनाथन हंसकर बोले, 'इसका उत्तर तो मैं भी नहीं जानता, जोसेफ !'

'मेरी भतीजी वहुत अच्छा गाती है, कण्ठ भी वहुत सुरीला है। सुनकर ही सीख लेती है। जव कभी मेरा मिजाज खराव होता है, उसे बुलाकर गाना सुनता हूं। सुनकर मिजाज अपने-आप ठीक हो जाता है।'

'हां, दूर से मैंने भी उसका गायन सुना है। सुन्दर कण्ठ है।'

'उसे देखा है ? रूप भी उतना ही सुन्दर है। उसे मैंने अपनी क्रिस्तान पाठ-शाला में पढ़ना-लिखना सिखाया है। भाई के मरने पर भार मेरे ही ऊपर तो है। सोचा था, अच्छी शिक्षा देकर, क्रिस्तान बनाकर अच्छी जगह ब्याह दूंगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कितने ही छोकरे अंग्रेज कर्मचारी हैं। वे लोग यहीं की लड़कियों से व्याह कर लेते हैं। लेकिन मेरे भाई तो थे जिद्दी और कुसंस्कारी। भाभी और भी ज्यादा थी। उसीने लड़की को क्रिस्तान नहीं वनने दिया। मेरे घर से एक मुट्ठी चावल भी नहीं लेती थी वह क्रोध के मारे। भीख मांगकर खाती थी। मैं भी ऐसा नरम आदमी नहीं हूं। मैं भी कभी उसे कुछ देता नहीं। और फिर कानून का भी तो भय है। जानते तो हो, उतनी-सी वात से ही यह मान लिया जाता कि हमारा परिवार एक है। हर चीज में उनका भी भाग है। लड़की का व्याह होने पर जमाई हिस्से की मांग करता। मां तो अंधी हो गई थी। लड़की का हाथ पकड़कर गाने गा-गाकर भीख मांगती फिरती थी। अब लड़की ने भी मां का जिद्दीपन पाया है। मां कहती थी, कभी भी क्रिस्तान नहीं वनने दूंगी। उसकी अपेक्षा इसे किसी मन्दिर में दे आऊंगी। वाहर झाड़ू देगी, भजन गाएगी, इसकी गति हो जाएगी।'

रंगनाथन अवाक् होकर सुन रहे थे। इसमें नया कुछ भी नहीं था, पहले भी सुन चुके हैं। वे वैष्णव हैं। जानते हैं, कितने ही अछूत भक्त सन्त हो गए हैं। पर ऐसी घटना नेत्रों के सामने हो रही है—फिर भी इन्हें पता नहीं चला—इसी पर विस्मय हो रहा है इन्हें।

जोसेफ आगे बोला, 'लड़की को नाचना भी आता है। वह चाहती है ठीक से

नाच और गाना सीखे। अच्छा आचार्य, उसे किसी कथाकलि नर्तकों के दल में नहीं दिया जा सकता? तुम इसकी कोई व्यवस्था नहीं कर सकते? सच मानो, वह बड़ी कुशल निकलेगी, बहुत नाम कमाएगी।'

ये बातें हुई थीं, पम्पा सरोवर जाने के पहले। पम्पासर में स्नान करने और सावित्री की कथा पर गीत-रचना की धुन में रंगनाथन को जोसेफ और लल्ला की बातें विस्मृत हो चली थीं। पर खण्डित यात्रा के मध्य से लौटते समय उन्नि के प्रसंग से बार-बार लल्ला की ही बात याद आ रही थी। उन्नि का स्मरण होते ही मानो उसके साथ ही लल्ला भी आ खड़ी होती। कभी सोचते, शायद लल्ला के भाग्य में भी ऐसी ही दुर्गति लिखी है। कई बार सोचा, जोसेफ को बुलाकर कहें, जोसेफ, लल्ला तुम्हारी भ्रातुष्पुत्री है। समय कैसा आया है, यह तो देख ही रहे हो। चारों ओर युद्ध का विस्तार हो रहा है। बड़े-बड़े राजा आंधी में नारियल-सुपारी के वृक्षों की भांति गिर रहे हैं। इस अराजक काल में लल्ला को भिक्षाटन के लिए मत जाने दिया करो। उसका विवाह कर दो, घर बसा दो। पल्टन के सैनिक तो—देशी हिन्दू-मुसलमान और विदेशी फिरंगी—सब एक से ही हैं। इनके सामने हम सभी अवश हैं। और फिर मद्रास शहर दिनों-दिन विस्तृत होता जा रहा है। दूर-दूर के स्थानों से धनी व्यवसायी आ रहे हैं, दुष्ट-दुर्जन भी आ रहे हैं। ये भी बर्बर हैं। मनुष्य वैसे भी भूमि और नारी—इन दो प्रलोभनों में पड़कर पशु हो उठता है। लल्ला का विवाह कर दोगे, तो कुछ सीमा तक निरापद हो जाएगी, कुछ सुरक्षित होगी।'

इतना कहने का विचार किया था, पर फिर भूल गए। और कुछ समय से जोसेफ भी इधर नहीं आया था, न लल्ला का मधुर कंठ-स्वर ही सुनाई दिया था। वे स्वयं भी गीत-रचना में इतने तन्मय हो गए थे कि बाह्य जगत् से सारा संपर्क मानो टूट चुका था।

इसके बाद लल्ला को देखा था कांजीवरम में—जब वरदराज के मंदिर में यह गान सर्वप्रथम देवता के सम्मुख गाया था। गोपुरम के बाहर, प्रवेश-पथ के पास ही अस्पृश्य श्रोताओं की प्रथम पंक्ति में ही वह खड़ी थी।

देखते ही इन्हें लगा था, कहीं यही तो लल्ला नहीं है! उसके हाथ में करताल थी, कंधे पर भिक्षा की झोली। रंग कृष्ण नहीं, श्यामल था। सुन्दर श्रीयुक्त मुख-मंडल; तन्वी, दीर्घ देहयष्टि; घुटनों तक आता हुआ दरिद्रावर्ण कार्पास-वस्त्र का परिधान। छोटा-सा आंचल कंचुकी को ढकता हुआ किसी प्रकार कंधे को पारकर पीठ पर पड़ा है। मस्तक पर घने, काले, रूखे केशों की राशि को एक रंगीन वस्त्र-खंड की सहायता से सुंदर, सुडौल रूप से बांध रखा है। उसमें लगा है—एक बड़ा-

सा पुष्प-गुच्छ।

देखकर इनके अधरों पर स्मित खेल गया। भिखारिनी हुई तो क्या, जीवन में यौवन की लीला अमोघ है। तेलहीन अविन्यस्त केशों को भी कुसुम-गुच्छ से सजा रखा है लल्ला ने। उसके नयनों में मुग्ध संभ्रम था। रंगनाथन से दृष्टि मिलते ही संभ्रम के साथ-साथ श्रद्धा-भरे हास्य की एक शिखा-सी दीप्त हो उठी उन नेत्रों में। वह मानो कृतार्थ हो उठी। करताल लिए-लिए ही उसने दोनों हाथों को कृतांजलि में बांध लिया था। उन हाथों में शंख के वलय थे, सुदीर्घ-सुडौल अंगुलियां—अनामिका में पीतल की अंगुरीय। पैरों में? पैरों में कोई आभूषण नहीं है? हां, है ना। रौप्य चरण-भूषा सजी है पांवों में।

लौटते समय भी देखा था। गोपुरम के शीर्ष से झूलते बड़े दीपाधार का परिपूर्ण आलोक उसके मुख पर पड़ रहा था। शुभ्र अपांग रक्ताभ हो रहे थे। चक्षु-पल्लवों की घन-दीर्घ रोमावली भी सिक्त थी। लल्ला गीत सुनकर रोई थी।

उस रात्रि फिर लल्ला के विषय में सोचकर चिंतित हुए थे। जिस यौवन-धर्म ने उसे, पल भर के लिए अपने रिक्त भिक्षा-पात्र को विस्मृत कर, उस पुष्प-गुच्छ की ओर हाथ प्रसारित करने के लिए प्रेरित किया था, वही यौवन-धर्म मनुष्य में, धरती के संग अपने संबंध भुलाकर आकाशचारी बनने की कामना भी जगा देता है। यह मृत्तिका मानव का परमाश्रय होने पर भी इसमें कंटक-पत्थर, कीट-पतंग, सरीसृप, खाई-खंदक आदि का तो अभाव नहीं है। आकाशकामी ज्योत्स्ना-मोहित नयनों को सर्प में भी माला का भ्रम हो सकता है। ये उसे कंठ-हार बनाने की भूल भी तो कर सकते हैं।

फिर उन्नि की याद आ गई। रंगनाथन सिहर उठे। लल्ला भी कहीं विक्षिप्त न हो जाए। इन्होंने निश्चय किया था, कांजीवरम से लौटते ही जोसेफ को कहेंगे। अगली प्रातः एक प्रहर रात रहते इन्होंने कांजीवरम से प्रस्थान किया था। सभी को प्रत्याशा थी कि अब शिवकांची से निमंत्रण आएगा। अब तक सदा यही क्रम चला था। वैष्णव होने के कारण ये अपने गीत की प्रथम अंजलि वरदराज के शत-स्तंभ मंडप में ही अर्पित करते थे। इसके बाद आह्वान आता शिवकांची से। फिर क्रमशः एकाम्बरेश्वर, मातंगेश्वर, ऐरावतेश्वर तथा त्रिपुरांतकेश्वर के मंदिर में उनके गीत होते थे। कई बार तो एक यात्रा में सारे मंदिरों के कार्यक्रम पूरे ही नहीं होते थे। दो-तीन बार कांजीवरम की यात्रा करनी पड़ती थी। इस बार किसी भी मंदिर से निमंत्रण नहीं आया था। इन्होंने एकाम्बरेश्वर के मंदिर के कर्तृ-पक्ष के पास दूत भेजा था। 'रंगनाथन ने कल प्रभु वरदराज को अपना गान सुनाया था, आज प्रभु एकाम्बरेश्वर के मंडप में···'

बीच में ही मठाधीश रूढ़ भाव से बोल उठे, 'ना।'

दूत विस्मित हो उठा था। कुछ समझ नहीं पाया। केवल विभ्रांत-सा होकर

स्तब्ध खड़ा रह गया। न कुछ उत्तर दे सका, न लौटकर आ ही पाया।

मठाधीश ने ही कहा, 'अभी एकाम्बरेश्वर ने अपने द्वार बंद कर रखे हैं। अर्जुन के तप से प्रभावित होकर वे किरात देश में अवतरित हुए थे। उस किरात वेश के लिए वे क्या प्रायश्चित करें, यही चिंता कर रहे हैं। प्रायश्चित्त शेष होने पर रंगनायन जब अपना गीत पूर्ण कर लेंगे, तभी सुनेंगे एकाम्बरेश्वर।'

दूत के मुख से सारी बातें सुनकर रंगनायन कुछ चिंतित हो उठे थे। उनसे कौन-सी भूल हो गई है? महेश्वर की महिमा के कीर्तन में कहीं कोई अपराध तो नहीं हो गया? चिंतित भाव से ही लौटे थे वे आश्रम में।

आश्रम लौटकर रचना की पुनः परीक्षा की थी—बड़े यत्न और तीक्ष्ण सतर्कता के साथ विश्लेषण किया था। पर कहीं भी तो कोई अपराध, कोई त्रुटि दृष्टि में नहीं आई। अचानक ध्यान आया—वेदव्यास ने लिखा था—स्वर्णकांति, किरातरूपी महादेव। हां, यहां पर रंगनायन ने व्याख्या की थी—हिमगिरि के अरण्यों में जो हिमाचल के कांचनजंघा की स्वर्णच्छटा से प्रतिभासित होकर स्वर्णकांति बनकर भ्रमण करते हैं, वही नीलगिरि पर शबर वेश में, नील समुद्र का लावण्य अंगीकृत करके नीलाभ कृष्णकांति धारण करके विचरण करते हैं। इसमें कुछ अपराध हुआ है? ना—कदापि नहीं। और क्या? महाभारत में अंग-गंध का प्रसंग नहीं है। इन्होंने अंग-गंध का उल्लेख किया था। कहा था, देवता जब व्याध, शबरादि वेश धरते हैं तो अपने शरीर की देव-गंध छिपाकर कटु-गंध को धारण करते हैं। इसमें कोई अपराध हुआ? नहीं, वे नहीं मानते। अगले दिन पत्र लिखने बैठे वे। लिखा भी —

'महामान्य पूज्यपाद आचार्यदेव, देवाधिदेव एकाम्बरेश्वर द्वार रुद्ध करके, किरात वेश धारण करने के अपराध का प्रायश्चित करने की चिंता कर रहे हैं, यह सुनकर कौतुहलवश एक प्रश्न निवेदन कर रहा हूं। देवाधिदेव क्या अनादिकाल से श्मशान-वास के निमित्त भी प्रायश्चित करने पर विचार कर रहे हैं?'

लिखकर, देर तक पत्र हाथ में लिए बैठे रहे—भेजें? या नहीं?

तभी इनके कानों में संगीत का स्वर पड़ा। समुद्र-तट पर कोई गा रहा था। बड़ा मधुर नारी-कंठ था। लल्ला है यह तो! लल्ला गा रही है। समुद्री पवन उसकी स्वर-लहरी वहन किए तट-भूमि की ओर बह रहा है। 'तिरुक्कुरल' का पद था। तुम्हें प्रणाम है ऋषि तिरुवल्लुवर। कैसी-कैसी रचनाएं दे गए हो! लल्ला गा रही है—

नहीं सुनी क्या कलित-काकली कभी बाल-गोपाल की?
फिर क्यों मिथ्या मोह तुम्हें वंशी-वीणा के स्वर से?

थाह ! हां, पहले कभी भी रंगनाथन ने इतने मनोयोग से लल्ला का गायन नहीं सुना था। स्वर कर्ण-कुहरों में प्रवेश करते थे, अच्छे लगते थे—बस। लल्ला के प्रति मन में विशेष कौतूहल भी नहीं था। पर आज कौतूहल के अनेक कारण थे।

उसके संबंध में जोसेफ की बातें सुनकर रंगनाथन विस्मित हुए थे। जोसेफ क्रिस्तान हो गया है, इसलिए लल्ला उससे एक मुट्ठी चावल की भी सहायता स्वीकार नहीं करती। स्वयं क्रिस्तान होना नहीं चाहती, इसीलिए गीत गा-गाकर भिक्षा से जीवन-निर्वाह करती है। क्रिस्तानों की पोशाक का लोभ संवरण कर लिया है; उनके प्रबल प्रताप के मोह से भी आच्छन्न नहीं हुई। उनकी उज्ज्वल त्वचा से चौंधिया नहीं गई। इसे साधुवाद दिए बिना नहीं रहा जाता।

और फिर उन्नि को देख कर इसके प्रति एक आशंका भी मन में जागी थी। यह असहाय बालिका भी यदि उसी प्रकार पागल हो जाए ! नहीं, नहीं !

परसों कांजीवरम में गोपुरम के आगे कृतांजलि बांधे लल्ला के श्रद्धाभरावनत नयनों की दृष्टि देखकर अंतर में अनायास ही स्नेह जाग्रत हो उठा था। आज यह गा रही है—महर्षि तिरुवल्लुवर के 'तिरुक्कुरल' का पद। मन ही मन प्रशंसा किए बिना न रह सके रंगनाथन। बहुत सीख गई है लल्ला।

उस दिन ये घर से निकल पड़े। सागरतट पर आकर देखा, नारिकेल-कुंज में एक वृक्ष के तने का सहारा लिए बैठी लल्ला गा रही है—

कृष्णगोपाल—कृष्णगोपाल—कृष्णगोपाल—
वरदराज —वरदराज —बालगोपाल !

यह अंश स्वयं लल्ला ने ही जोड़ा है। बुद्धिमती है। वाह ! पीछे की ओर से आते-आते अचानक जोरों से ही उनके मुंह से निकल गया—'वाह !'

लल्ला चौंक उठी। चकित होकर, पीछे मुड़कर इन्हें देखते ही, लज्जा से आनत दृष्टि भूमि पर टिकाकर प्रस्तर-प्रतिमा-सी खड़ी रह गई। रंगनाथन ने कहा, 'वाह ! तुम तो बहुत सुंदर गाती हो—बहुत सुंदर !'

लल्ला उत्तर न दे सकी। नीरव भाव से मानो कुछ और नत हो गई। रंगनाथन भी कहने को कोई और बात नहीं खोज पाए संभवतः इसीलिए बोल उठे, 'रुक क्यों गई ? गाओ ना !'

रुद्ध कंठ से बड़े ही मृदु स्वर में वह बोली, 'नहीं, प्रभु। आपके सामने नहीं गा सकूंगी।'

रंगनाथन ने अब पूछा, 'तिरुक्कुरल का पद कहां सीखा ?'

'मठ में सुनकर, प्रभु।'

'केवल सुनकर ही ?'

'हां, प्रभु। जितना याद रह जाता है, लिख लेती हूं।'

नेत्र पोंछकर, हंसने की चेष्टा करती हुई वह बोली, 'आपकी बातें सुनकर मुझे रोना आता है, प्रभु। ऐसी वातें तो और कोई नहीं करता। आप वड़े अच्छे हैं, प्रभु।'

अचानक ही इन्हें वह बात याद आ गई, जो ये जोसेफ को कहना चाहते थे। ऐसी किशोरी, ऐसा कण्ठ-स्वर, शवरों में दुर्लभ नवपल्लव-सा श्यामल वर्ण, सुगठित देह, ये दीर्घायित नयन; आज इस मत्स्यन्याय के युग में···'

उन्नि की याद आई। ये वोले, 'तुम्हारा अभिभावक कौन है, कल्याणी?'

ये लल्ला की ओर देख रहे थे और वह आनत नयन, सिर झुकाए बैठी थी। ये शब्द वह मानो सुन ही नहीं पाई। इन्होंने फिर पुकारा, 'कल्याणी!'

'मुझे कह रहे हैं, प्रभु?'

'हां, अभी-अभी तो तुम्हें यह नाम दिया है।'

वह हंसकर वोली, 'कलावन्नी नाम भी हर समय मुझे याद नहीं रहता। लल्ला न कहने से···' वह फिर हंसने लगी।

'तुम्हारा अभिभावक कौन है? जोसेफ?'

'अभिभावक? नहीं, प्रभु। कोई मनुष्य मेरा अभिभावक नहीं है। वचपन में ही, जव मैं छः-सात वर्ष की थी···'

'जानता हूं, जोसेफ ने कहा था। वोला था, तुम्हें भी क्रिस्तान···'

'वह वात सुनने को भी मना कर गई है मेरी मां। वापू कह गए हैं, मुझ पर वरदराज की कृपा रहेगी। चाचा मेरा अभिभावक नहीं है। हमारा सर्वस्व ले लिया है उसने। यह व्यवसाय वापू का ही तो था। घर-जमीन सव उसने दखल कर ली है। मुझे भी, वस चलता तो फिरंगियों के हाथ वेच देता।'

उसके शांत-सुन्दर नयन उत्तेजना से विस्फारित हो उठे। मसृण ललाट भी कुंचित हो उठा था। रंगनाथन ने पूछा, 'तो फिर कौन है तुम्हारा अभिभावक?'

'मां मरते समय कह गई थी—लल्ला, वरदराज तेरी रक्षा करेंगे।'

यही उचित अवसर था। वे वोले, 'तुम्हारे पिता क्या तुम्हारा विवाह-सम्बन्ध कहीं स्थिर नहीं कर गए?'

'नहीं, प्रभु।'

'तुम्हारी मां?'

'वह भी नहीं, प्रभु। उसने कहा था—इनमें से किसी का भी विश्वास नहीं है, लल्ला। ये सब क्रिस्तान हो जाएंगे। तू तो बस वरदराज के मन्दिर के वाहर झाड़ू लगाया करना, भिक्षा से काम चलाना।'

'तो फिर···'

'मैं वही करूंगी, प्रभु। गा सकती हूं। वचपन से ही गीत गा-गाकर भिक्षा मांगती रही हूं। मेरा जीवन अधिकतर देव-स्थानों के वाहर ही वीता है। गांव में

कभी-कभी ही आती हूं। इन लोगों की तरह रहना—मुझसे नहीं होगा, प्रभु !'

उसने हठात् समुद्र की ओर मुंह फिरा लिया। फिर बोली, 'मैं आपके पास आने ही वाली थी, प्रभु। यदि गायन और कथाकलि नृत्य सीखने की कोई व्यवस्था कर सकें...'

'तुम्हारे चाचा ने भी मुझसे कहा था...'

'वह मेरा शत्रु है। मेरे सामने उसका नाम मत लीजिए। मेरा ही नहीं, आपका भी शत्रु है। आज प्रात: कांची से लौटकर गांव गई थी। वहां देखा, चाचा आपका नाम लेकर लाल-पीला हो रहा था। कह रहा था, आपने गीत में शबरों का अपमान किया है, वह आपसे बदला लेकर रहेगा।'

रंगनायन ने विस्मय से पूछा, 'मैंने अपमान किया है ?'

'वे लोग तो यही कह रहे थे।'

'और तुम ? तुम भी तो शबर-कन्या हो, कल्याणी। क्या तुम्हें भी आघात पहुंचा है ?'

'उस रात आपका गीत सुनकर रोई थी। आप जब बाहर निकल गए, तब भी मेरी पलकें गीली थीं। उस दिन ,रोकर ही समझी, कि प्रेम में भी मनुष्य रो पड़ता है।'

'तो फिर ये लोग क्यों क्रुद्ध हैं, बता सकती हो ?'

'यह तो नहीं जानती। यही लोग नहीं, सुना है, शिवकांची में भी आपको कभी नहीं बुलाया जाएगा।'

'मुझे पता है।'

फिर बहुत देर तक दोनों स्तब्ध खड़े रहे। रंगनायन समुद्र की ओर देख रहे थे, लल्ला भूमि की ओर। दोपहरी की आभा से समुद्र घनतर नील हो उठा था। तरंग-शीर्ष की तीव्र उज्ज्वलता धूप में झिलमिला उठती और अगले ही पल फिर नीचे की गहन नीलिमा में विलीन हो जाती। वे केवल सोच रहे थे...क्यों ?

'क्यों ? इन्होंने...'

'प्रभु !'

'कुछ कह रही हो ?'

'आपने मेरे माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया था। [illegible] आपके चरण-स्पर्श करके प्रणाम कर लूं ?'

'निश्चय। तुम कल्याणी हो। और मेरे प्रभु के लिए [illegible] उनके ही रूप हैं—वही हैं—भक्त केवल मैं हूं।'

'कितनी सुन्दर बात कही आपने, प्रभु !' [illegible] बोली, मैं शबरी हूं, इसलिए क्या मुझे नाच-गान [illegible] प्रभु ?'

'मिलेगा क्यों नहीं ! मैं देखूंगा।'

वेला-भूमि पर सजी नारियल-सुपारी के वृक्षों की घनी वीथिका के मध्य से होकर वह चली गई थी। ये चिन्तित भाव से लौट आए थे—क्यों? क्यों? कहां त्रुटि हुई मुझसे?

अन्त में चित्त को दृढ़ करके ये कह उठे थे, 'ना। त्रुटि मुझसे नहीं हुई है। नहीं। मैंने तो केवल सत्य पर प्रकाश डाला है। सत्य भी तो कटु होता है। मिथ्याश्रयी और भ्रान्त व्यक्ति उसे सहन नहीं कर पाते, क्रुद्ध होते हैं।'

हों—क्रुद्ध हों वे ! रंगनाथन इस गीत को गाएंगे—इसके स्वर में समस्त देश को आच्छन्न कर देंगे।

यह थी एक मास पूर्व की घटना। एक मास पश्चात् कल थी शुक्ला-त्रयोदशी। कल ही गीत गाकर लौटते समय यह घटना हो गई।

कल भी लल्ला थी—वाहर खड़े श्रोताओं की प्रथम पंक्ति में ही। कल भी उनके मुख पर दीपाधार का प्रकाश पड़ रहा था। वह इन पर श्रद्धा करती है—असीम श्रद्धा। इन्हें इस श्रद्धा से अवगत भी कराना चाहती है वह। तभी प्रत्येक गीति-निवेदन के समय वह इस प्रकार खड़ी रहती है। कल भी उसकी विशाल पलकें आर्द्र थीं। इन्होंने उसकी ओर देखा था, बात करने की इच्छा भी थी, पर तभी कन्याकुमारी के यात्रियों का एक दल पार्थसारथी तथा कपालीश्वर के दर्शनों को आ पहुंचा था। उनमें से एक प्रौढ़ा कुमारी संन्यासिनी आकर इनका अभिनन्दन करने लगी। इसमें जो विलम्ब हुआ, उसी में वह जा चुकी थी। आज अज्ञात आततायियों के द्वारा इनके आहत होने का समाचार पाकर आई है। दौड़ती हुई आई थी। गोशाला तक पहुंचते-पहुंचते मानो आर्त्त वेदना से टूट-सी पड़ी थी। तभी खूंटे के सहारे अपने को किसी प्रकार संभाल रही थी। उसके छलकते नयनों को इन्होंने भी देखा था। अधर भी कांप रहे थे। उस शान्त, कोमल-प्रकृति, भक्तिमती कन्या को यदि कुछ कहने का अवसर भी मिलता, तो सम्भवतः केवल 'प्रभु' का उच्चारण करते ही उसका कण्ठ रुंध जाता, पलकों की कोरों से अश्रुधारा बह निकलती। अधरों का कम्पन और अधिक बढ़ जाता। उसी कन्या को ये लोग शबरों की गुप्तचरी ठहरा रहे हैं !

पर वे लोग क्या शबर थे? यदि शबर थे, तो उन्होंने इन्हें मारा क्यों? इन्होंने तो उनके प्रेम से प्रेरित होकर ही अपने सम्पूर्ण जीवन का आवेग ढालकर उस परम सत्य को प्रकाशित किया था। इसके पहले तक तो वे लोग इन्हें अपने स्नेह की अजस्र धारा से अभिषिक्त करते रहते थे। उनके बाल, वृद्ध, प्रौढ़, युवक—सभी की प्रशंसा-मुग्ध दृष्टि तथा संभ्रमपूर्ण हास्य द्वारा की गई अभ्यर्थना की तुलना इन्हें बड़े-बड़े ब्राह्मण, शैव, गुणी-धनी समाज में भी नहीं मिली थी। उस

विद्वत्समाज ने दिया था प्रसाद, ये लोग करते हैं पूजा : तो फिर ? इसके अतिरिक्त।
···गन्ध का प्रश्न भी उठा था। बात युक्तिसंगत ही थी। शरीर की गन्ध छद्मवेश में नहीं छिपती। गात्र-गन्ध इन्हें मिली भी थी। क्या शबरों की थी वह ?

ना।

तो फिर शैव-भक्तों की ?

पर वे भी इस सीमा तक विक्षिप्त क्यों होने लगे ? वैसे हो भी सकते हैं। धर्म का आवेग सभी आवेगों से बढ़कर होता है। स्वर्ग से पृथ्वी पर गंगा जो प्रचण्ड वेग लेकर उतरी थी—जिस वेग के आगे ऐरावत भी नहीं ठहर पाया—धर्मोन्माद का वेग उससे भी प्रबल है, उसमें भी कहीं अधिक प्रचण्ड।

एक दीर्घ नि.श्वास छोड़ा इन्होंने। क्या करें ये ? इन्होंने तो इस द्वन्द्वकलह की, इस हिंसा की कामना नहीं की थी, सुधार करना चाहा था। फिर यह सब क्यों हुआ ?

'आचार्य रंगनाथन हैं ?'

सुनकर चौंक उठे रंगनाथन। जोसेफ का कण्ठ-स्वर था। जोसेफ···

'आचार्य···'

स्वयं को संयत करके इन्होंने कहा, 'जोसेफ, आओ, आओ।'

जोसेफ भीतर घुस आया। उसकी प्रखर दृष्टि, पद-क्षेप, सभी मानो युद्ध-कामना से प्रचण्ड हो रहे थे—दीर्घ, सबल और अकारण ही उद्धत।

'सुना, कल रात को अंधेरे में किसी ने तुमको मारने की चेष्टा की ?'

कुछ मुस्कुराकर रंगनाथन बोले, 'हां, मस्तक पर प्रहार करके वे लोग भाग खड़े हुए। मेरे संगी निकट ही थे, और संख्या में भी उनसे अधिक। नहीं तो, सम्भव है···'

'मुझे दु.ख है, आचार्य ! पर इससे भी बड़ा दु.ख इस बात का है कि तुम हम पर सन्देह करते हो।'

'मैंने तो नहीं किया जोसेफ, औरों ने किया है। तुमने मद्रास में श्रेष्ठी गोपालन के···'

'हां, हां, कहा था। मुझे बहुत बुरा लगा था।'

'एक प्रश्न पूछूं तुमसे ?'

'कि मैंने मारा है या नहीं ? आचार्य, मैंने अगर मारा होता, तो इतना-सा आघात देकर ही नहीं छोड़ देता। उच्चवर्ण के हिन्दू, विशेषकर अय्यर लोग, हृदय से कितने ही भीरु, और शरीर से कितने ही दुर्बल हों, स्वभाव से कुटिल और विषैले होते हैं—सांप-जैसे। इन्हें केवल छेड़कर छोड़ देना विपत्तियों को न्यौता देना है। मैं जान लिए बिना नहीं छोड़ता।'

'मैं यह नहीं पूछ रहा था।'

'ओह ! तो फिर मैं क्रिस्तान हूं, इसलिए पूछ रहे हो ? सुनो आचार्य क्रिस्तान होकर भी मैं यह नहीं भूल पाता कि जन्म से मैं शवर था।'

'यह भी नहीं, भाई। मैं पूछ रहा था कि मैं तो तुम लोगों से प्रेम करता हूं। यही वात मैंने कही भी थी। इससे तुम्हें दुःख क्यों हुआ ?'

'क्यों ?'

इस प्रश्न से जोसेफ। स्तब्ध होकर इनकी ओर देखता रह गया, किसी विचार में खो गया। फिर वोला, 'तुम्हारी वात तो सच है। इस दृष्टि से मैंने देखा ही नहीं था। पर यह वात सच है रंगनाथन, कि गाना सुनकर हमें वहुत वुरा लगा था। हां, यह भी कहूंगा, कि मारा हम लोगों ने नहीं था, विश्वास करो।'

'विश्वास करता हूं, जोसेफ।'

'मेरी भतीजी लल्ला आई थी ? सुना, यहां उसे मेरी गुप्तचरी कहकर श्रीनिवासन ने पकड़वाना चाहा था !'

'हां। मैंने प्रतिवाद किया था जोसेफ, पर वे लोग माने नहीं।'

'यह भी सुना है। पर वह तो तुम्हारी भक्त है। हम सवसे अधिक वही तुम्हारे गायन की भक्त है। इसीलिए आई होगी वह। वह हमारी गुप्तचरी नहीं है। हमारी वह कुछ भी नहीं है। उसकी मां उसे हमसे पराया कर गई है—भिखारिन वना गई है उसे। उसे मन्दिर वुहारकर पेट भरने को कह गई है। वह भिखारिन है—शवरों से भी अधम। गुप्तचरी होगी, तो शैवों की; हमारी नहीं।' फिर एक तिक्त हंसी-हंसकर वोला, 'गुप्तचरी वह किसी की भी नहीं है, रंगनाथन। वह है केवल तुम्हारी जूठन की लोभी कुतिया।'

'जोसेफ !' रंगनाथन का स्वर उच्च हो उठा।

जोसेफ हंसकर वोला, 'उस दिन समुद्रतट पर तुम दोनों का वार्त्तालाप हममें से कुछ लोगों ने देखा-सुना है। उसके लिए तुम वड़े भले हो रंगनाथन वड़े भले। उसके माथे पर हाथ रखकर तुमने आशीर्वाद दिया, उसने तुम्हारे पांव छुए, हमसे कुछ भी छिपा नहीं है। अगर वह हममें से होती, तो हम तुमसे कैफियत तलव करते। पर वह तो भिखारिन है। हमारी वह कोई भी नहीं है। आचार्य रंगनाथन, तुम्हें मारने वाला व्यक्ति अगर लल्ला का कोई असफल प्रेमी हो, तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होगा। तुम्हारा गाना सुनकर उस पर मानो जादू हो जाता है। तुम सम्भवतः यह नहीं जानते, पर हम जानते हैं। जो शवर तुम्हारे गीत सुनने जाते हैं, वही लौटकर मुझे वताते हैं। उस दिन इस वात के प्रसंग में भी वोले थे।'

रंगनाथन जाने कैसे संकुचित-से हो गए। विस्फारित दृष्टि से जोसेफ की ओर देखते रह गए। जोसेफ ने कहा, 'तुम्हें चोट लगी है। इसका हमें दुःख है। मैं अगर चोट करता, तो हत्या किए विना न छोड़ता। वह लड़की हमारी कोई नहीं है। अच्छा, चलता हूं।'

'भय से, प्रभु। भीतर जब शबरों की बातें हो रही थीं, श्रेष्ठी गोपालन बाहर, मेरी ओर संकेत कर रहे थे। मैं भय के मारे उस पुआल के पीछे छिप गई थी। फिर जब मेरा नाम लेकर खोज-पुकार मची, तो मैं इसी के अन्दर···'

रंगनाथन बोल उठे, 'यह क्या! यह तो···उफ्! रक्त निकाल दिया काटकर!'

विषाक्त, वृश्चिक जातीय कीट था। केकड़े जैसे पांवों से ग्रीवा के मांस तक को ज़ोरों से जकड़ रखा था, और हूल से डंस रहा था। पांवों के क्षत से रक्त की धारा बह रही थी, तब भी वह उसी प्रकार दृढ़ता से, मानो निष्ठुर आक्रोश से चिपका था। कुछ पल विचार करके रंगनाथन ने अपने उत्तरीय की तह करके उसमें लपेटकर जोरों से उसे खींच लिया। लल्ला यन्त्रणा से चीत्कार उठी, 'हाय!'

पर बीच में ही अपने को संयत कर लिया उसने। उस वृश्चिक को मारकर रंगनाथन ने कहा, 'वह विषाक्त था, लल्ला। तुम्हें अवसन्नता का अनुभव तो नहीं हो रहा है?'

'हां, प्रभु।'

'तुम्हें विश्राम करना होगा। मेरे पास ओषधि है, लगा दूंगा। उठो। उठ सकोगी?'

'मुझे किसी वृक्ष के तले सुला दें, प्रभु।'

'नहीं, घर में चलकर विश्राम करो।'

'ना!' आर्त्त स्वर में कह उठी वह।

'ना, नहीं। उठो।'

'तो फिर, उस गोशाला में···'

'नहीं, नहीं। उठो। यह क्या? तुम तो कांप रही हो!'

'बड़ी यन्त्रणा हो रही है। और···'

मुख, अधर, सब शुष्क हो आए हैं, पलकें ढली पड़ रही हैं। ठीक से खड़ी भी नहीं हो पा रही है। रंगनाथन ने उसे हाथों पर उठा घर में ले जाकर लिटा दिया। बुदबुदाकर उसने प्रतिवाद भी किया, पर जिह्वा मानो जड़ होती जा रही थी। रंगनाथन ने उसे थोड़ा-सा जल पिलाया और मुख धो दिया। सिर धुलवाना भी आवश्यक था। उसे पिछले बरामदे में ले जाकर ढेर-सारा जल डाला सिर पर। थोड़ा-सा जल और पिलाया। कुछ स्वस्थ होकर नेत्र खोलने की चेष्टा की लल्ला ने।

रंगनाथन बोले, 'चुपचाप सोई रहो। मैं बाहर से एक जड़ी लिए आता हूं। थोड़ी-सी खिलाने और घिसकर लगाने से सब ठीक हो जाएगा। सुनो, तुम उठो मत, लेटी रहो।'

अपने उद्यान में से उन्होंने जड़ी खोज निकाली और काली मिर्च के साथ पीसकर लल्ला को खिला दी। कुछ समय बाद लल्ला यन्त्रणा के उपशम की स्वस्ति से कह उठी, 'आह !' और हाथ बढ़ाकर कुछ टटोलने लगी।

'क्या खोज रही हो?' रंगनायन ने पूछा।

'आपके चरणों की धूल···'

'नहीं!'

'दीजिए ना, प्रभु। उससे मुझे बल मिलेगा।'

अब द्विधा नहीं की रंगनायन ने। विश्वास के बल को वे जानते थे। उसके माथे पर हाथ फेरकर बोले, 'अब कुछ देर सो जाओ।'

'मैं अब बाहर···'

'चुप!'

अभी तक वे उत्कण्ठित दृष्टि से वातायन की ओर देख रहे थे। अब जाकर उसके पास खड़े हो गए। वृक्ष-पंक्ति की फाँक से दिखाई दिया, शहर से ग्राम जाने वाले पथ पर दूर से दो अश्वारोही और कुछ अन्य लोग आ रहे हैं। अश्वारोहियों ने कोतवाली की पोशाक पहन रखी है—मद्रास में फिरंगियों की कोतवाली की पोशाक। कहां जा रहे हैं ये लोग? कहीं यहीं तो नहीं आ रहे? आ ही रहे हों, तो? सम्भव तो है। उनका मस्तक घूम गया।

लल्ला अवसन्न लता-सी पड़ी हुई है। सम्भवतः नींद आने लगी है। विष और ओषधि, दोनों के प्रभाव से कुछ-एक प्रहर ऐसे ही आच्छन्न पड़ी रहेगी।

वे लोग लल्ला की तलाश में थे। श्रीनिवासन प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा कर गए हैं। यदि वे लोग लल्ला को पकड़ लें? पल-भर में रंगनायन ने अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया। साथ के छोटे कक्ष का द्वार खोला। यह कक्ष भी दो कोठरियों में बंटा हुआ था—एक भण्डार, और भीतरी भाग पूजा-गृह। पूजा-गृह में एक सुन्दर-से सिंहासन पर वरदराज स्वामी की अनुकृति थी। उनके पास ही लक्ष्मी थीं और एक दूसरे आसन पर पीतल की नटराज मूर्ति। भांति-भांति के सुन्दर समुद्री शंखों, सीपियों, कौड़ियों इत्यादि से स्थान सजाया हुआ था। सामने फूल बिछे थे। इसी कोठरी में देवता के सामने भूमि पर उन्होंने लल्ला की मृदुल, कमनीय देह को लाकर लिटा दिया। मन ही मन कहा—इसका कोई अपराध नहीं है, प्रभु। अपराध यदि कोई है, तो मेरा है। दण्ड देना है, तो मुझे देना प्रभु, इसकी रक्षा करना।

शीघ्रता से निकलकर उन्होंने द्वार पर ताला जड़ दिया, फिर अपने कक्ष में आकर भण्डारवाला द्वार भी बन्द कर दिया, और अपने आसन पर बैठ गए।

मस्तक के क्षत में अब पीड़ा हो रही थी। क्लान्ति का भी अनुभव हो रहा था। एक दीर्घ श्वास छोड़कर मन-ही-मन बोले, हे वरदराज! हे वैकुण्ठेश्वर!'

अश्व-पद-शब्द आश्रम के वाहर ही थम गया। रंगनाथन समझ गए, उनका अनुमान मिथ्या नहीं था। वे लोग यहीं आए हैं। अगले ही क्षण कण्ठ-स्वर भी सुनाई पड़ा, 'आचार्य रंगनाथन !'

'आइए।'

कोतवाली के कर्मचारियों ने भीतर आकर अभिवादन किया। रंगनाथन उठकर वाहर आए, 'कहिए।'

'माननीय श्रीनिवासन ने हमें भेजा है। कहा है, आपके आश्रम पर पहरा देना होगा। शहर में भांति-भांति की जनश्रुतियां फैल रही हैं। सुनने में आया है, आचार्य पर किसी भी क्षण आक्रमण हो सकता है।'

'यह क्या ! मुझ पर भला कौन आक्रमण करेगा, और करेगा ही क्यों ?'

'जिन्होंने पहले किया, और जिस कारण से किया था।'

रंगनाथन विव्रत हो उठे, कुछ तिक्त भी, 'नहीं, नहीं, नहीं ! यह धारणा भ्रान्त है। यह असम्भव है। आप लोग जाइए।'

'हम आदेश के दास हैं। स्थान त्याग करने का आदेश नहीं है।'

'तो फिर मैं ही स्थान त्याग करता हूं।'

'ऐसी स्थिति में प्रभु, हममें से एक आपका सहगामी होगा, और एक यहां रहकर आश्रम की रक्षा करेगा।'

स्तम्भित हो गए रंगनाथन। विद्रोही स्वर में वोल उठे, 'यह कैसा अत्याचार है !'

कर्मचारी वोला, 'यही नहीं आचार्य, माननीय श्रीनिवासन ने कहलवाया है कि आप उन्हें सूचित किए विना कहीं भी गीत गाने न जाएं।'

'कांजीवरम, महावलिपुरम तथा तंजौर के सव स्थान अभी भी कम्पनी की अधिकार-सीमा के वाहर हैं। वहां निश्चय ही यह आदेश नहीं चलेगा।'

'जी हां, वहां नहीं चलेगा। पर मद्रास प्रान्त की सीमा तक हम साथ रहेंगे। वहां से लौट आएंगे। आचार्य को ज्ञात नहीं है, हम शहर में कैसी प्रवल उत्तेजना देख आए हैं। अपने ऊपर दोषारोपण हुआ जानकर पादरीगण उत्तेजित हैं। यही दशा शैवों तथा हिन्दुओं की भी है। आपके गुणों पर मुग्ध जनता इस आक्रमण के कारण क्षुव्ध है। उधर माननीय श्रीनिवासन ने कम्पनी के वड़े साहव से साक्षात्कार किया था; उन्होंने भी आक्रमणकारी के सन्धान के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने का आदेश दिया है। सारे शहर के नागरिक उस शवर-भिखारिणी को खोज रहे हैं।'

असहाय, किन्तु कटु स्वर में रंगनाथन वोले, 'क्या इसीलिए मुझे गृह-वन्दी होकर रहना होगा ?'

'नहीं, नहीं। हम आपके सेवक हैं, आपकी रक्षा करने के लिए ही आए हैं, आपके कल्याण के लिए ही।'

'मुझे बड़ी स्वस्ति का बोध होता है। मेरा हृदय कहता है कि मेरा शत्रु कोई नहीं है, मैं किसी का शत्रु नहीं हूं। मेरी रक्षा करने की क्षमता एकमात्र मेरे देवता प्रभु वरदराज में है। वही मेरी रक्षा करते हैं।'

जाने कैसी एक ध्वनि सुनाई दी! बात करते हुए भी रंगनायन का ध्यान उधर ही है। लल्ला प्रायः संज्ञा-शून्य होकर पड़ी है। अपने ऊपर इस समय उसका कोई नियंत्रण नहीं है, उसे इन लोगों की उपस्थिति का ज्ञान ही है।

कोतवाली के कर्मचारी ने कहा, 'कई बातें ऐसी भी हैं, जिनका ज्ञान आचार्य को नहीं है।'

तमककर रंगनायन दृढ़ कण्ठ से बोले, 'सब बातों का ज्ञान किसी को भी नहीं होता, भाई। अस्तु, अब मेरा अनुरोध मानकर आप किसी वृक्ष की छाया में विश्राम कीजिए। मेरा पूजा का समय हो आया है। मैं अब पूजा करूंगा। इस समय…'

'अवश्य, अवश्य। हम लोग जा रहे हैं, आचार्य।'

बरामदे से उतरकर वे एक लता-मण्डप की छाया में जा बैठे।

रंगनायन ने छोटे कक्ष का प्रथम द्वार खोलकर भण्डार में प्रवेश किया, फिर पूजा-गृह में। संज्ञा-शून्य लल्ला लता-सी पसरी पड़ी है। मुख पर अभी पीड़ा के चिह्न हैं। उसका एक हाथ पूजा के उपकरणों पर आ पड़ा है। एक छोटे-से धूपा-धार में धूप-शलाका जल रही थी—वह धूपाधार गिर पड़ा था। उसी का वह शब्द हुआ होगा। हाथ के घात से शलाका भी बुझ गई थी। श्वास-प्रश्वास में भी बीच-बीच में एक मृदु, कातर स्वर निकल आता है।

रंगनायन ने नाड़ी परीक्षा की। नाड़ी दुर्बल है, पर आशंका की कोई बात नहीं है। थोड़ा-सा दूध पिलाने से शायद लाभ हो। भोग का दूध पड़ा है। रंगनायन की पूजा में आडम्बर नहीं होता। थोड़े-से फूल-चन्दन, धूप-दीप, दुग्ध-शर्करा, और नारिकेल-कदली आदि का भोग। प्रातः की पूजा हो चुकी है। मध्याह्न की पूजा की सामग्री सजाकर ही उन्होंने सहानुभूति-ज्ञापनकारियों से भेंट की थी। अब मध्याह्न की पूजा कैसे होगी? और भोग लगाए बिना लल्ला को दूध कैसे पिला दें?

लल्ला ने मुंह खोल रखा है, शायद जल मांग रही है। एक बार नेत्र भी खोले थे। नेत्र रक्त-वर्ण हो उठे हैं, पुतलियां चमक रही हैं।

उन्होंने मृदु स्वर में पुकारा 'लल्ला!'

लल्ला ने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल मुख और खोल दिया।

रंगनायन ने कुशी में देवता का चरणोदक लेकर उसके मुख में डाल दिया।

उसने फिर मुख खोला—और—और! फिर आरक्त नयन खोलकर क्लान्त-सी दृष्टि से देखकर बोली 'आह!' फिर बोली, 'सारे शरीर में बड़ी जलन हो रही है।'

कहकर ही उसने फिर नेत्र मूंद लिए। रंगनाथन कुछ क्षण तक विचार मग्न रहे, फिर संकल्प स्थिर कर लिया। पूजा-सामग्री पहले स्थान से कुछ हटाकर फिर सजा ली। पूजा करने बैठे, और हाथ जोड़कर बोले, 'वरदराज ! करुणामय ! यदि अपराध हो, तो दंड मुझे देना। तुम्हारी परम भक्त इस बालिका की प्राण-रक्षा के हेतु तुम्हारी पूजा संक्षेप में ही करूंगा और तुम्हारा प्रसाद देकर उसे स्वस्थ करूंगा।'

लल्ला फिर अस्फुट स्वर में बोली, 'बड़ा दाह है, बड़ी जलन है !'

रंगनाथन ने एक पल कुछ विचार किया, फिर उठकर भंडार-गृह के कोने में रखी माटी की कलसी से एक भृङ्गार में जल भर लाए। आचमन आदि प्राथमिक कृत्य करके, उच्च स्वर से मंत्रोच्चार करते हुए, देवता के मस्तक पर कुश से जल छिड़का, फिर भृङ्गार उठाकर लल्ला के सिरहाने आ बैठे, और उसी उच्च स्वर से मंत्र-पाठ करते हुए उसका सर्वाङ्ग जल-धारा से अभिषिक्त कर दिया—

आत्रेयी भारती गंगा यमुना च सरस्वती।
सरयूर्गण्डकी पुण्या श्वेतगंगा च कौशिकी ॥
भोगवती च पाताले स्वर्गे मन्दाकिनी तथा।
सर्वा सुमनसो भूत्वा भृगांरैः स्नापयन्तु ताः ॥
सिंधु-भैरव-शोणाद्या ये हृदा भुवि संस्थिता।
सर्व्वे सुमनसो भूत्वा भृगांरैः स्नापयन्तु ते ॥
लवणेक्षु—सुरा सर्पिर्दधिदुग्धजलात्मकाः।
सन्तस्ते सागराः सर्वे भृ गारैः स्नापयन्तु ते ॥

जल-सिंचन की स्निग्धता से लल्ला की देह शीतल हो गई। उसने फिर नेत्र खोलकर देखा, और मृदु स्वर में बोली, 'और···आह !'

फिर एक भृङ्गार जल लाकर, देवता का चरण-स्पर्श करवा कर उन्होंने मंत्रोच्चार-सहित उसे स्नान करवा दिया। उसकी देह की धूलि-धूसरता विलीन हो गई साथ ही कुछ शुष्कता भी। उसने फिर मृदु स्वर में कहा, 'आऽऽह !'

अब रंगनाथन ने पूजा समाप्त की। लल्ला का शारीरिक स्पर्श न होने पर भी उसके अस्तित्व के स्पर्श को अनुभव कर रहे थे वे। फिर भी स्वयं को अशुचि नहीं माना उन्होंने। पूजा समाप्त करके, भोग निवेदित करके वे दूध लेकर फिर लल्ला के सिरहाने आ बैठे। मृदु स्वर में पुकारा, 'लल्ला !'

'हं ?' लल्ला ने नयन खोलकर देखा, फिर उन्हें देखकर वह कृतज्ञतापूर्ण स्मित के साथ बोली, 'प्रभु !'

'लो, यह दूध पियो। मुंह खोलो, मैं ढाल देता हूं। मुंह खोलो !'

पर लल्ला हाथ का सहारा लेकर उठने की चेष्टा करने लगी। कुछ ऊपर उठते ही वह भय से अस्फुट आर्त्त नाद कर उठी। उन्होंने एक हाथ से उसका मुख दबा-

वृश्चिक-दंश की ज्वाला फिर भी अधिक काम्य है।

वरदराज ने उसकी रक्षा की है, उन्हीं के चरणों में वे उसे सौंप आए हैं। वे फिर बोले—इस बार स्फुट कंठ से, 'हे वरदराज! तुम पतितों के भगवान हो। आज तुम्हारे चरणों में आश्रय लेना यदि उसका अपराध हुआ हो, तो वह अपराध मेरा है। उसका नहीं। दंड देना ही हो, तो मुझे देना। तुम अन्तर्यामी हो। तुम पर उसकी कैसी अगाध भक्ति है! उसकी रक्षा करना, प्रभु!'

वरदराज स्वामी—पतितों के नाथ! विपन्नों के रक्षक! अनंत करुणा के आधार! रंगनाथन की उपलब्धि मिथ्या नहीं है। उन्होंने सत्य की उपलब्धि करके ही गान की रचना की थी—

'वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही शरवपल्ली में पतितों के मध्यम भी वास करते हैं। जो भवानी-पति कैलाशवासी हैं, वही इन अछूतों के मध्य भी रहते हैं। उनके कृष्णवर्ण से यदि तुम्हें घृणा होती हो, उनके निवास स्थान की वीभत्स मलिनता या कटु गंध के कारण यदि उनके निकट जाने में तुम्हें द्विधा का बोध हो, तो तुम प्रभु को कभी भी पहचान नहीं पाओगे। ब्राह्मण-तनय, तुम ब्रह्माभिलासी हो। क्रोध, घृणा और अहंकार के कारण तुम अपनी शिक्षा की अवधि में उन्हें नहीं पा सके। मैं नारी हूं, और अपने धर्म पर अचल हूं। मेरे पति मेरे आराध्य ही नहीं. प्रियतम भी हैं। उनकी सेवा मेरा धर्म ही नहीं, परम धर्म है। इसी धर्म के एक-निष्ठ पालन से मुझे जो आनंद मिलता है, उसमें और ब्रह्मानंद में कोई अंतर नहीं है। इसी धर्म का पालन करने के कारण तुम मुझ पर क्रुद्ध हुए, परंतु इस क्रोध से मेरी बिंदु-मात्र भी क्षति न होगी। अतएव, तुम्हें परम सत्य, परम तत्व का ज्ञान व्याध-पल्ली में धर्माराधन करते धर्म-व्याध से ही प्राप्त होगा। घृणा मत करना; गंध से व्याकुल होकर नासिका कुंचित कर द्वार पर ही मत रुक जाना, भीतर प्रवेश करना। तुम्हें पता है, तपस्या-रत अर्जुन को भवानीपति महारुद्र ने किरातवेश में ही दर्शन दिया था? अर्जुन ने उन्हें किरात मानकर अवज्ञा की थी, घृणा की थी, किंतु किरात रूपी भगवान ने उसके वक्षस्थल पर मुष्टि का आघात करके उसकी शक्ति का अभिमान चूर-चूर कर दिया था। उसकी घृणा का उपहास किया था इष्टदेव को समर्पित उसकी माला को अपने कंठ में धारण करके। हिमगिरि की कंचनजंघा की स्वर्णच्छटा से प्रतिभासित स्वर्णकांति महादेव जब किरात वेश धारण कर नीलगिरि पर आए, तब उन्होंने सुनील समुद्र का अवगाहन करके निविड़ नीलकांति रूप धारण किया।'

वरदराज की करुणा अपार है। रंगनाथन की उपलब्धि सच्ची है।

अपराह्न तक लल्ली स्वस्थ हो उठी थी। बहुत रोई थी। बोली थी, 'अब और

नहीं, प्रभु। अब मैं स्वस्थ हूं, चेतन हूं। चेतनाहीन, व्याधिग्रस्त अवस्था में इस पूजा मंदिर पर मेरा जो अधिकार था, वह अब नहीं है। अपने अपराध की मुझे कोई चिंता नहीं है प्रभु, राज-प्रतिनिधि के दंड और अपमान का भी मुझे कोई भय नहीं है। मुझे बाहर निकालकर प्रहरियों को सौंप दीजिए प्रभु···'

रंगनायन ने कहा, 'ना।'

'मेरे कारण वरदराज आप पर रुष्ट होंगे। आपकी तपस्या···'

बीच में ही रोककर रंगनाथन बोले, 'मेरी तपस्या इसी से पूर्ण होगी, कल्याणी। तुम लल्ला नहीं हो, कलावन्ती भी नहीं, कल्याणी हो। तुम यहीं रहो —देवता की महिमा-सी। मिथ्या नहीं कहता कल्याणी, आज मैंने पूजा-गृह में मैंने वरदराज की करुणाधन्य महिमा के प्रत्यक्ष दर्शन किए हैं। पर अब अधिक बातें न करो। उन लोगों को अभी भी संदेह नहीं हुआ है। अब कहीं न हो जाए। यह प्रभु का प्रसाद है—दुग्ध, शर्करा, कदली। यह खाओ। तुम अभी दुर्बल हो, तुम्हें बल की आवश्यकता है।'

'किंतु इस तरह कितने दिन रखेंगे, प्रभु?'

'इन्हीं से पूछो।'

'पर यदि उन लोगों को मेरी उपस्थिति का पता चल गया, तो आपको कितनी लांछना उठानी पड़ेगी! नहीं, प्रभु···'

'चुप!' फिर स्मित हास्य से बोले, 'उसी लांछना से मेरी तपस्या पूर्ण होगी, लल्ला।'

कितना संगीतमय शब्द है—लल्ला! तभी तो 'कल्याणी' के बदले यही निकल आया मुख से। रंगनाथन बाहर आकर वीणा के साथ गा रहे थे। सर्वप्रथम संगीत की अधिष्ठात्री देवी की, दक्षिण भारत में बहु-प्रचलित स्तुति का गान किया—

कलादेवते शरणम्—
वन्दे मधुर चरणम्—
वन्दे मधुर संगीत देवते कला देवते शरणम्।

सत्य सुर सुरूपिणी
समस्त के दुखहारिणी
आनन्द मृदुवाहिनी
आनन्द भैरव मोहिनी
तालमेल सम्मिलित नर्तित
रागरंगिणी हृदयहासिनी
मेघ मधुरिम मंगल वदनम्

मोह दरदी
जीव जीवनी जीव जीवनी
कला देवते—
कला देवते शरणम् !

दोनों प्रहरी विभोर होकर सुन रहे थे। कुडुमुनि भी घर जाते-जाते रुक गया। पार्थसारथी के मंदिर से वह कुछ समय पूर्व ही लौटा है। वयस वृद्ध ठहरा, और फिर कुछ पेटू भी है। प्रसाद पाकर मध्याह्न को वहीं विश्राम किया था। और फिर नदी भी पार करनी पड़ी थी। समुद्र के निकट आकर नदियों का विस्तार विपुल हो जाता है, प्रवाह की गति भी तीव्र हो जाती है। नौकाओं से पार होकर आने में सहज ही एक वेला व्यतीत हो जाती है। अडियार नदी पार करने में उसे विलंब हो गया था। तभी, लौटते ही वह घर जाने को अधीर हो उठा था। उसे तथा दोनों प्रहरियों को भोजन देकर ही रंगनाथन वीणा लेकर वैठे थे। संगीत में वे तन्मय हो गए थे, नयनों से जल वह रहा था। दोनों प्रहरी भी रह-रहकर नेत्र पोंछ रहे थे, और कुडुमुनि तो फफक-फफककर रो उठा था। उन्हें स्पष्ट अनुभव हुआ था, पूजा-घर में लेटी हुई लल्ला भी रोई थी। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर, वीणा रखकर वे अपनी शय्या पर लेट गए। पर सो नहीं सके। भीतर लल्ला की आहट सुनने के लिए कान सतर्क थे। लल्ला क्या सो गई? लेकिन दीर्घ श्वास-प्रश्वास का स्वर तो नहीं उठ रहा है?

कुछ पलों में ही दोनों प्रहरियों का मृदु नासारव सुनाई देने लगा था। कुडु-मुनि का नासा-गर्जन और भी प्रबल था। लल्ला क्या अब भी जाग रही है? कहां, उसका श्वास-प्रश्वास तो गहराया नहीं। उठकर उसे देखने जाने का साहस भी नहीं हुआ। क्या जाने कब कौन जाग उठे! सन्ध्या को भोग तथा आरती के वाद देवता का शयन होता है, फिर प्रभात तक वह द्वार नहीं खोला जाता। आज द्वार पर ताला उन्होंने इसीलिए नहीं लगाया। कहीं खोलना पड़े, तो आहट से और लोग न जाग उठें। ऐसे ही अटकाया हुआ द्वार। फिर भी यदि कोई आहट हो ही जाए! रात्रि के समय दोनों प्रहरियों को वृक्ष के आश्रय में नहीं भेज सके थे। वरामदे में ही सोए हैं दोनों।

इसी बीच उन्हें भी एक वार तंद्रा-सी आ गई थी। अचानक पांवों पर स्पर्श का आभास पाकर जाग उठे। नेत्र खोलकर जो देखा, उससे वे स्तंभित, पाषाणवत हो गए। लल्ला उनके चरण-स्पर्श कर प्रणाम कर रही थी। भीतरी कक्ष से निकल आई है वह। एक चीत्कार उठकर उनके कंठ में ही दवकर रह गई। मानो किसी ने गला दवा दिया हो। पर लल्ला रुकी नहीं, कुछ वोली भी नहीं। प्रणाम करके ही हल्के पगों से वाहर की ओर जाने लगी। कक्ष के वरामदे में खुलने वाले द्वार में पल भर रुकी।

बाहर पूर्णिमा की परिपूर्ण ज्योत्स्ना छाई थी। सारी प्रकृति मानो क्षीर-सागर की अमल-धवल स्वच्छता में स्नात होकर शुभ्र हो उठी थी। अदूरवर्ती समुद्र में भी पूर्णिमा का ज्वार आया था। तरंगों के आघात से कलोल-ध्वनि उठ रही थी। लल्ला सम्भवतः बरामदे में सोये तीन व्यक्तियों को देखकर ही पल-भर के लिए ठिठक गई थी। फिर उनके पास के टेढ़े-मेढ़े खाली स्थान से होकर वह शीघ्रतापूर्वक बरामदे से उतर गई। ज्योत्स्ना-भरे उद्यान में रंगनाथन उसे स्पष्ट देख पा रहे थे। द्रुत पगों से वह आश्रम के फाटक के पास जा खड़ी हुई, वह भी पल भर के लिए ही, फिर निकलकर दृष्टि से ओझल हो गई।

अब जाकर उनकी स्तम्भित चेतना मानो तड़िताहत होकर लौटी। वे पुकारने को हुए—लल्ला! पर फिर अपने को संयत कर लिया और उठकर कक्ष से निकल आए!

कैसी गहन रजनी है! इस रात में एकाकिनी किशोरी लल्ला कहां जाएगी? मत्स्य-न्याय का युग है। सारे देश की शासन-व्यवस्था छिन्न-विच्छिन्न हुई पड़ी है। ग्राम-ग्राम में लम्पट चोर-डाकुओं के दल घूम रहे हैं। शहर में भी कम्पनी के गोरे और तैलंग सैनिक मद्य-पान करके समुद्र-तट पर हुल्लड़ मचाते रहते हैं। धनियों के उद्यान-भवनों में, मत्त कण्ठ के स्खलित वाक्यों के संग बेताल-छन्द नूपुर-ध्वनि से नटराज का अपमान होता रहता है। भगवान की इस पृथ्वी पर ही भगवान का निरादर होता है। इस रात में वह जाएगी कहां? और ऊपर से आज दिन भर वह वृश्चिक-विष से अवसन्न पड़ी रही है—मृत्यु-यन्त्रणा जैसा कष्ट भोगा है। कितनी दूर जा सकेगी भला वह?

शीघ्रता से वे भी आश्रम से निकल आए। कहां है, किधर है लल्ला?

ज्योत्स्ना-प्लावित पृथ्वी पर केवल वृक्षों के तले ही कुछ अंधेरा था। उन्होंने लल्ला के ग्राम की ओर जाने वाले पथ को देखा। कहां? बालुकामय पथ कौमुदी में झिलमिला रहा था। जनशून्य पथ। मद्रास की ओर जाने वाले पथ को देखा। वह भी सूना था। दूर, शहर के दो पक्के मकान दिखाई दे रहे हैं। प्रकाश हो रहा है उनमें। दूर से कुत्तों के भौंकने का स्वर तैरता हुआ आ रहा है। पर लल्ला कहां है? यहां तो नहीं है। पूर्व की ओर समुद्र की वेला-भूमि है। क्या उसी ओर गई है? वेला-भूमि की ओर दौड़ गए वे।

कुछ दूर जाकर ऊंची बालूमय भूमि क्रमशः निम्न हो आई है। वहीं नारिकेल-सुपारी वृक्षों की पांत है। पूर्णिमा का चन्द्रमा मध्य-गगन में है, इसीलिए वृक्षों की सघन छाया जड़ के आस-पास ही एकत्रित है। बीच-बीच में पत्तों की फांक से कोई किरण ज्योत्स्ना के बाण-सी आकर इस अन्धकार को वेध देती है। वायु की ताड़ना से पत्ते आन्दोलित हो रहे हैं। हां, वही तो। वही तो ये चंचल ज्योत्स्ना-खण्ड रह-रहकर किसी मनुष्य-मूर्ति के सिर पर, कन्धों पर, पावों पर पड़ रहे हैं। उस धुंधली

आभा में एक छाया-मूर्त्ति-सी दिखाई दे रही है। वह जा रही है लल्ला, उस वृक्ष-पंक्ति से सटी-सटी। छाया में छिपकर चलना चाहती है।

वे फिर एक वार पुकारते-पुकारते रुक गए। प्रहरीगण जाग उठेंगे। वे स्वयं ही दौड़ चले। आकर वृक्षों की पंक्ति के तले खड़े हो गए। सामने समुद्र पूर्णिमा के उत्ताल ज्वार से उच्छ्वसित हो रहा है। बड़ी-बड़ी तरंगें पछाड़ खा-खाकर इन वृक्षों के तल-देश तक आ पहुंचती हैं। उनके पांव भीग गए थे।

वहां—वह जा रही है लल्ला! उस खण्ड-खण्ड आलोक में रहस्यमयी मूर्त्ति-सी दिखाई दे रही है।

वे फिर दक्षिण की ओर दौड़े। उसी ओर लल्ला जा रही है—सम्भवतः महावलिपुरम को।

कुछ दूर जाकर वे रुक गए। कितनी दूर है लल्ला! लल्ला, मत जाओ; राह बड़ी लम्बी है। तुम दुर्वल हो, युवती हो। यह गहन रात्रि। रुको, लल्ला। पर कहां? अब तो नहीं दिखाई देती।

दवे-दवे-से उच्च स्वर में उन्होंने पुकारा, 'लल्ला!'

समुद्र के कलरव में उनका स्वर दव गया। एक और तरंग ने आकर उनके पांव भिगो दिये। वे फिर अग्रसर हुए। पुकारा, 'लल्ला!'

अब जाकर दिखाई दी। नारिकेल पंक्ति की छाया में ज्योत्स्ना की एक किरण अचानक ही उस पर पड़ गई। एक वृक्ष के तने का सहारा लेकर वैठी है लल्ला। चांदनी में उसके वस्त्रों की झलक दिखाई दे रही है। वह वैठी है···क्लान्ति के मारे वैठने को वाध्य हुई है। थकान से ढलकी पड़ रही है।

तीव्र गति से आगे वढ़ गए। हां, लल्ला नारियल की जड़ के पास लेट गई है। कुछ ठिठककर उन्होंने धीरे-से पुकारा, 'लल्ला!'

चौंक उठी लल्ला, 'कौन?'

'भय नहीं है, लल्ला; मैं हूं।'

'प्रभु, आप?' वह फिर स्थिर हो गई। एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोली, 'सोचा था, चल सकूंगी, पर चला नहीं जाता। वड़ी दुर्वलता का अनुभव हो रहा है।'

'चली क्यों आई लल्ला? छिः, छिः, छिः!'

रंगनाथन उसके सिरहाने वैठ गए, सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया, और वोले, तुम चली आईं! मैं उन लोगों के जागने के भय से तुमसे कुछ कह भी नहीं सका।'

फिर उसके ललाट पर हाथ फेरकर बोले, 'तुम्हारी नाड़ी तो देखूं जरा।'

नाड़ी देखकर वोले, 'दुर्वल है अभी। इस दुर्वल अवस्था में क्या कर वैठी, बोलो तो?'

लल्ला शान्त-शिष्ट बालिका की भाँति चुपचाप खड़ी रही।

रंगनाथन सोचने लगे, क्या करें इसे लेकर! बड़ा विकट प्रश्न है। मद्रास और इसका अपना स्थान इसके लिए बन्धन और निर्वेद का प्रश्न लिए बैठे हैं। ज्योत्स्ना का एक बड़ा-सा टुकड़ा उन लोगों पर आकर फैल गया। उन्होंने देखा, लल्ला एकटक उन्हीं की ओर देख रही है। उनकी दृष्टि भी उसके मुख पर निबद्ध हो गई। लल्ला के केश बहुत घने हैं, और स्याह ही घुंघराले भी। नेत्र दोनों आयत हैं—प्रशान्त, और प्रसन्न। सीपियों की-सी सफेद शुभ्र आँखों की अंजलियों में काले मोतियों-सी पुतलियाँ चमक रही हैं। चाँदनी उनमें प्रतिबिम्बित होकर बिखर रही है।

लल्ला उनकी दृष्टि के प्रति मानो सचेत हो उठी। उसने नेत्र मूँद लिए। रंगनाथन ने पुकारा, 'लल्ला!'

'प्रभु!'

'क्या सोच रही थी, लल्ला?'

यह नहीं पूछ सके, कि मेरी ओर देखकर क्या पाया लल्ला?

उनका कण्ठ भर आया था। एक बार उन्हें सन्देह भी हो आया था। एक मादकता-सी छाई जा रही थी उन पर। देह-शिराओं के रक्त-प्रवाह में, मस्तिष्क के स्नायुओं में एक उन्मत्तता-सी भर गई थी। मस्तक से चित्त को आच्छन्न करती हुई एक तीव्र धारा-सी बही जा रही थी। सुचित्र चन्द्र लल्ला के ललाट पर कोमलता चमक रही थी। ललाट पर हाथ फेरकर फिर पुकारा, 'लल्ला!'

लल्ला का ललाट शीतल था। नेत्र मूँदे-मूँदे ही क्षीण-सी मुस्कान के साथ उसने उत्तर दिया, 'सोच रही थी, आप ही मेरे लिए साक्षात् परब्रह्म स्वामी हैं!'

आवेग से आच्छन्न हो गए रंगनाथन। गम्भीर स्नेह से मुख नत करके अचानक रुक गए।

अपने मुख पर उनके उष्ण निःश्वास का स्पर्श पाकर लल्ला ने आँखें खोलीं। विस्फारित नेत्रों से देखकर बोली, 'प्रभु!'

रंगनाथन ने कोई उत्तर नहीं दिया, विरत भी नहीं हुए। उसके ललाट पर एक चुम्बन देकर बोले, 'यह तुम्हारे वरदराज का आशीर्वाद है।

क्रन्दन से आकुल हो उठी लल्ला—एक वाक्यहीन रुदन!

रंगनाथन ने उसका कंधा पकड़कर खींचा, 'उठो! उठ सकोगी?' मंत्रमुग्ध-सी लल्ला उठी। रंगनाथन बोले, 'मेरा सहारा ले लो। चला न जाता हो, तो उठाकर ले चलूँ, क्यों?'

'कहाँ, प्रभु?'

'क्यों? मेरे घर।'

'प्रभु!'

'कोई भय नहीं है, लल्ला ।'

'प्रभु, प्रहरी···'

'कोई भय नहीं है। तुम्हें ले जाने नहीं दूंगा उन लोगों को। तुम चिन्तित मत होओ।'

'आप पर विपत्ति आ जाएगी। नहीं, नहीं···'

'नहीं।'

'यह आप क्या कह रहे हैं? कैसे बचाएंगे मुझे, प्रभु? एक भिखारिणी शवर-कन्या के लिए आप जाति-च्युत होंगे?'

'जाति-च्युत! नहीं।'

स्थिर, निष्पलक दृष्टि से उसकी ओर देखकर रंगनाथन बोले, 'नहीं। फिर भी तुम्हें छोड़ूंगा नहीं।'

एक बार फिर उच्च कण्ठ से बोले, 'ना! तुम्हें कभी भी नहीं छोड़ूंगा। ना!'

दृष्टि उनकी उन्मादिनी-सी हो आई थी। सारी देह कांप रही थी—हाथों में अग्नि का उत्ताप।

शंकित कण्ठ से लल्ला बोली, 'प्रभु!'

रंगनाथन बोले, 'डरो मत। मुझसे घृणा न करना, लल्ला। आवश्यकता हुई, तो तुम्हारे लिए जाति-च्युत भी हो जाऊंगा। मैं शवर बन जाऊंगा, पर तुम्हें नहीं छोड़ सकूंगा।'

लल्ला को अपने सबल वक्षस्थल में समेट लिया रंगनाथन ने। यौवन की जिस नित्यलीला के प्रभाव से शीतकाल के अन्त में अकस्मात् ही पवन की गति परिवर्तित हो जाती है, सूर्य के स्पर्श से नवीन ताप का संचार होता है, पृथ्वी के रन्ध्र-रन्ध्र में कामना जाग उठती है; उसी ताप की कामना के आगे रंगनाथन के सारे संकल्प बह गए।

लल्ला के अधरों पर अपने अधर रखकर मूक कर दिया उसे, स्वयं भी मौन हो गए। कुछ पल बाद उसे छोड़कर बोले, 'कामना के आगे मैं पराजित हुआ हूं, उसे अंगीकार किया है, पर मैं कामार्त्त पशु नहीं हूं, लल्ला। मैं तुमसे विवाह करूंगा।'

अपने कण्ठ से तुलसी की माला उतारकर उसे पहना दी और बोले, 'समुद्र की साक्षी में तुम्हें वरण किया मैंने। प्रयोजन हुआ, तो जाति-च्युत भी हो जाऊंगा। मैं जानता हूं, समाज मुझे जाति-च्युत कर दे, तो भी वरदराज मेरा त्याग नहीं करेंगे। हम दोनों दूर कहीं एकान्त में चले जाएंगे। तुम शवरी नहीं, ब्राह्मणी होगी।'

लल्ला उनके चरणों में लोट गई, 'आप मेरे वरदराज हैं।'

'तो फिर तुम लक्ष्मी हो।'

उसे उठाकर फिर हृदय से लगा लिया। फिर कहा, 'चलो।'

'नहीं।' शान्त स्वर में लल्ला बोली, 'यहां बड़ा अच्छा लग रहा है। कितना सुन्दर चाद है, कैसी मधुर ज्योत्स्ना! समुद्र कितना मनोहारी लग रहा है।'

'तो ठीक है। यहीं बालू-भूमि पर ही हमारी बासर-शय्या सजेगी।' स्नेह-पूर्वक लल्ला को नारिकेल-कुंज के तले बैठाकर रंगनायन भी पास ही बैठ गए।

एक उच्छ्वसित उत्ताल तरंग बेला-भूमि पर पछाड़ खाकर उनके पांवों तक आकर लौट गई।

रंगनाथन बोले, 'आज पूर्णिमा है ना! समुद्र मतवाला हो उठा है।'

बालूचर पर बिछी बासर-शय्या पर दोनों निद्राच्छन्न पड़े थे। नींद टूटी पक्षियों के कलरव से। झरे हुए आकाश-कुसुमों-सा श्वेत समुद्री पक्षियों का दल भोर की म्लान ज्योत्स्ना में दम बांधकर चक्राकार उड़ रहा था। स्थलचारी विहंग भी वृक्षों के सिरों पर बैठे कलरव कर रहे थे। जो दो-एक शाखा-प्रशाखा विशिष्ट वृक्ष थे, उनके पत्र-पल्लवों में छिपे नन्हे-नन्हे पक्षी दल-बद्ध शिशुओं की भांति प्रभाती की काकली मे मुखर हो उठे थे। पूर्व का सीमाहीन सागर जहां आकाश से मिलता है, वहां एक दीर्घायित पाण्डुर रेखा जाग उठी है। उसी रेखा के मध्य में कुछ उत्तर की ओर पाण्डुरता मण्डलाकार मे क्रमशः बढ़ती जा रही है। पूर्व के आकाश की ज्योत्स्ना म्लान होकर विवर्ण हो गई है। क्षितिज से कुछ ऊपर शुक्र तारा अपनी नीलाभ ज्योति मे प्रकाशमान है।

इधर पश्चिम में अस्तमान पूर्णचन्द्र का वर्ण रक्ताभ-पाण्डुर हो आया है, फिर भी उसकी ज्योत्स्ना पश्चिमी दिगन्त मे छाई हुई है। शाखा-प्रशाखाहीन नारिकेल वृक्षों के पश्चिमी भाग पर भी यह छिटकी है। पूर्वी भाग में समुद्र-गर्भ तक विस्तृत बेला-भूमि पर भी इसकी छाया-सी फैली है। इसी ज्योत्स्ना का एक टुकड़ा उस शबरी के मुख पर भी आ पडा है। निश्चिन्त निद्रा मे मग्न है लल्ला।

पहले नींद टूटी रंगनाथन की। रात्रि शेष हो गई है। एक दण्ड के भीतर ही वह पीतवर्ण मण्डल रक्ताभ हो उठेगा। वह रक्तराग फिर समुद्र के एक विन्दु को केन्द्र करके, उसकी परिधि में आने वाले आकाश को रंजित कर देगा। फिर वह केन्द्र गहरा होता जाएगा और फिर जवाकुसुम की सी छवि का सूर्य मानो समुद्र का वक्षस्थल चीरकर ही प्रकट होगा। इसके बाद एक छलांग मारकर सूर्यदेव आकाश में जा सुशोभित होंगे और समुद्र के नील तरंग-शीर्ष रक्तराग की छटा से रंजित हो उठेंगे।

शबरी लल्ला अभी भी निद्रामग्न है। रंगनाथन ने उसके मुख की ओर देखा। अचानक स्वयं पर ही क्रोध आ गया उन्हें। भावावेग में वे कल यह क्या कर बैठे?

हे वरदराज, यह क्या किया ! कल इस विष-जर्जरा चेतनाहीना कन्या को तुम्हारे चरणों के आश्रय में सौंपते हुए कहा था—यदि अपराध हो, तो उस अपराध का दण्ड मुझे देना। दोष इसका नहीं, मेरा है; तुमने मुझे मोह-ग्रस्त करके, तपस्या-च्युत करके, मेरे माध्यम से क्या इसी को दण्ड दिया है ? वे स्थिर हो गए—पाषाणवत्। दिन का आलोक जितना स्पष्ट होता जा रहा है, पृथ्वी जितनी प्रकाशित होती जा रही है, उतने ही वे मानो पंगु होते जा रहे हैं। यह क्या किया उन्होंने ! करुणा दिखलाने जाकर यह किस बन्धन में बांध लिया अपने को ! लल्ला को पुकार भी नहीं पा रहे हैं वे। निद्रालस नयनों में, खुलते ही, समुद्र के वक्ष पर आविर्भूत रक्तिम सूर्य की भांति, प्रेम की दीप्ति फूट पड़ेगी। उसका सम्पूर्ण मुख-मंडल कोमल अनुराग की छटा से अनुरंजित हो उठेगा। अधरों के कोनों पर सलज्ज हास्य खिल उठेगा। तब क्या करेंगे वे ?

लल्ला के गले में उनकी वैष्णव कंठी पड़ी है।

अचानक ही रंगनाथन वेत्राहत की भांति अधीर हो उठे। लल्ला को एक बिच्छू ने डंसा था। उन्हें लगा, उन्हें सहस्रों बिच्छू डंक मार रहे हैं।

क्या करें वे ? लल्ला तो अभी भी उन्हें वृश्चिक की भांति जकड़े हुए है। उसका एक हाथ अभी भी उनकी गोद में पड़ा हुआ है। आतंकित होकर ही मानो उन्होंने उस हाथ को उठाकर जोरों से भूमि पर पटक दिया।

उस आघात से लल्ला के नेत्र खुल गए। सद्यः मुकुलित नयनों में आघात के वेदना-बोध का नाम भी न था। था केवल प्रसन्न अनुराग। नींद के नशे में उसने उस आघात का पूर्ण रूप से अनुभव भी नहीं किया था, न अनुमान ही। करने का कोई कारण भी नहीं था।

नयन खोलकर स्मित हास्य के साथ वह बोली, 'प्रभु !' शायद वह समझी, रंगनाथन ने उसे पुकारा है।

रंगनाथन तब तक उठ खड़े हुए थे। 'प्रभु' कहकर पुकारने में लल्ला का प्रश्न छिपा था, 'क्या कह रहे हैं ?' पर रंगनाथन के पास कहने को कुछ भी नहीं था। पथिक के पास सोया चोर जिस प्रकार प्रभात होते ही सांस छोड़कर भागता है, उसी प्रकार वे भी एक सांस में दौड़कर वहां से चले गए।

लल्ला उठ खड़ी हुई। उसके विस्मय की सीमा न थी। इस प्रकार भागे क्यों ? प्रहरी !···चंचल हो उठी वह, पर अगले ही पल शान्त हो गई। याद आया, कल रंगनाथन ने उसे अपने घर ले जाना चाहा था। कहा था—किस बात का भय है ? तुम मेरी पत्नी हो। अपने घर में प्रवेश करोगी।

तो फिर ? तो फिर ?

उसे विश्वास नहीं हो रहा था। उसके कण्ठ में तो अभी भी उनकी पहनाई हुई वैष्णव-कण्ठी झूल रही है। तो फिर ?

पाषाण-मूर्ति-सी वह खड़ी रही। अब उसे प्रहरियों का भय नहीं है। वे आएं, उसे पकड़कर। करें निर्वासित, करें लांछित।

सूर्य उदित होगा। एक मण्डलाकार रक्तानुरंजन धीरे-धीरे आकाश में व्याप्त हो रहा है। पक्षीगण दल बांधकर दूर-दूर की उड़ानें भर रहे हैं। समुद्र पर नौकाएं दिखाई देने लगी हैं। दूर उत्तर में मद्रास बन्दर में खड़े जहाजों के मस्तूल दिखाई दे रहे हैं। बड़ी-बड़ी नौकाएं पाल तानकर निकल रही हैं। छोटी मछुआरों की नौकाएं भी समुद्र में दूर निकल गई हैं। जन-कोलाहल सुनाई देने लगा है। सूर्योदय हो रहा है।

पर वह कहां जाए? दिन के प्रकाश में कैसे रह सके? यह सब स्पष्ट नहीं है, अब कुछ भी दुर्बोध्य नहीं है। यही होता है। यही शायद नियम है।

सूर्य उदित हुआ। प्रकाश धूप बनकर खिल उठा। देह में उष्णता का स्पर्श हुआ। उस स्पर्श से वह चौंक उठी। जाना होगा—कहीं जाना होगा। दूर—कहीं बहुत दूर। भागना होगा उसे।

द्रुत पगों से वह नारिकेल-वन की घनी वीथिका के मध्य से दक्षिण की ओर चलने लगी।

प्रातः का ज्वार आ रहा है। बढ़ता हुआ पथ उसके पदचिह्न धोता जा रहा है।

रंगनाथन वेगवाहन-से दौड़े चले आ रहे थे।

प्रातः निद्रा खुलने पर उन्हें न पाकर वेंकटी उन्हें उत्कण्ठित होकर ढूंढने निकले थे। उन्हें देखकर कुछ आश्वस्त हुए, पर उनकी दशा देखकर पूछ बैठे, 'क्या हुआ, बालाम्बे? उतनी भोर कहां गई थीं? मधुरान्तक पर?'

'आं? हूं!' वे बोलीं।

भौंचक्की-सी खड़ी रहीं, उन्हें देखकर उनके पास दौड़ती हुई कक्ष में आकर अपनी शय्या पर लोट गईं। देह का वस्त्र अब तक गीला था, पर उसकी अनुभूति का उन्हें आभास तक न हुआ। वह सिसकती रहीं।

यह कैसी अनुभूति है! यह क्या किया! हे भगवान! यह कैसा प्रहार किया तुमने!

हे वरदराज, यह क्या किया ! कल इस विष-जर्जरा चेतनाहीना कन्या को तुम्हारे चरणों के आश्रय में सौंपते हुए कहा था—यदि अपराध हो, तो उस अपराध का दण्ड मुझे देना। दोष इसका नहीं, मेरा है; तुमने मुझे मोह-ग्रस्त करके, तपस्या-च्युत करके, मेरे माध्यम से क्या इसी को दण्ड दिया है? वे स्थिर हो गए—पाषाणवत्। दिन का आलोक जितना स्पष्ट होता जा रहा है, पृथ्वी जितनी प्रकाशित होती जा रही है, उतने ही वे मानो पंगु होते जा रहे हैं। यह क्या किया उन्होंने ! करुणा दिखलाने जाकर यह किस बन्धन में बांध लिया अपने को ! लल्ला को पुकार भी नहीं पा रहे हैं वे। निद्रालस नयनों में, खुलते ही, समुद्र के वक्ष पर आविर्भूत रक्तिम सूर्य की भांति, प्रेम की दीप्ति फूट पड़ेगी। उसका सम्पूर्ण मुख-मंडल कोमल अनुराग की छटा से अनुरंजित हो उठेगा। अधरों के कोनों पर सलज्ज हास्य खिल उठेगा। तब क्या करेंगे वे?

लल्ला के गले में उनकी वैष्णव कंठी पड़ी है।

अचानक ही रंगनाथन वेत्राहत की भांति अधीर हो उठे। लल्ला को एक बिच्छू ने डंसा था। उन्हें लगा, उन्हें सहस्रों बिच्छू डंक मार रहे हैं।

क्या करें वे? लल्ला तो अभी भी उन्हें वृश्चिक की भांति जकड़े हुए है। उसका एक हाथ अभी भी उनकी गोद में पड़ा हुआ है। आतंकित होकर ही मानो उन्होंने उस हाथ को उठाकर जोरों से भूमि पर पटक दिया।

उस आघात से लल्ला के नेत्र खुल गए। सद्यः मुकुलित नयनों में आघात के वेदना-बोध का नाम भी न था। था केवल प्रसन्न अनुराग। नींद के नशे में उसने उस आघात का पूर्ण रूप से अनुभव भी नहीं किया था, न अनुमान ही। करने का कोई कारण भी नहीं था।

नयन खोलकर स्मित हास्य के साथ वह बोली, 'प्रभु !' शायद वह समझी, रंगनाथन ने उसे पुकारा है।

रंगनाथन तब तक उठ खड़े हुए थे। 'प्रभु' कहकर पुकारने में लल्ला का प्रश्न छिपा था, 'क्या कह रहे हैं?' पर रंगनाथन के पास कहने को कुछ भी नहीं था। पथिक के पास सोया चोर जिस प्रकार प्रभात होते ही सांस छोड़कर भागता है, उसी प्रकार वे भी एक सांस में दौड़कर वहां से चले गए।

लल्ला उठ खड़ी हुई। उसके विस्मय की सीमा न थी। इस प्रकार भागे क्यों? प्रहरी !···चंचल हो उठी वह, पर अगले ही पल शान्त हो गई। याद आया, कल रंगनाथन ने उसे अपने घर ले जाना चाहा था। कहा था—किस बात का भय है? तुम मेरी पत्नी हो। अपने घर में प्रवेश करोगी।

तो फिर? तो फिर?

उसे विश्वास नहीं हो रहा था। उसके कण्ठ में तो अभी भी उनकी पहनाई हुई वैष्णव-कण्ठी झूल रही है। तो फिर?

पुरुष में और पुरुष पूर्णता प्राप्त करता है नारी में, उसी अकृत्रिम, पवित्र कामना से कल उन्होंने उसे ग्रहण किया था। भूल'''भूल की है उन्होंने भागकर। भूल! पाप का प्रायश्चित्त होता है। भूल का संशोधन हुए बिना जीवन की क्षति पूर्ण नहीं होगी।

हे वरदराज—यह किस मति-भ्रान्ति से तुमने मुझे छला?

क्यों? क्यों? क्यों ऐसी भ्रान्ति हुई उन्हें? कल इतना बड़ा आघात पाकर भी वे विचलित नहीं हुए थे, असत्य नहीं बोले थे। किसी के भी भय से उपलब्ध सत्य को असत्य करके नहीं कहा था। पर अपने जीवन के चरम सत्य को किस प्रकार वे क्षणिक भ्रान्ति के वश में, सागरतट पर त्यागकर चोरों की भांति भाग आए?

वे आसन से उठ गए। फिर बैठ गए। प्रणाम करके कहा, 'लल्ला को लौटा लाने जाता हूं, प्रभु! लल्ला मेरे जीवन का चरम सत्य है। मैं उससे प्रेम करता हूं। उसे मैं तुम्हारे प्रसाद-स्वरूप ग्रहण करूंगा।'

घर से निकलकर समुद्र तट की ओर चले। प्रहरियों से कहा, 'समुद्र तट पर जा रहा हूं। तट के साथ-साथ मद्रास तक जाऊंगा। तुम लोग लौट जाओ।'

कुडुमुनि से कहा, 'घर खुला छोड़ जाता हूं। मेरे लौटने तक राह देखना।'

सागर तट पर आ खड़े हुए।

धूप में झिलमिला रहा है सागर-जल। धूप और धूप से उज्ज्वल सागर-जल की छटा से प्रदीप्त बेला-भूमि ऐसी लग रही है, मानो परम शुचिता से परिमार्जित, देवता का आंगन हो। नारियल-सुपारी के तलवार-से तीखे, दीर्घ पत्र चमक रहे हैं। उनके आन्दोलन की सरसराहट सुनाई दे रही है। समुद्र का अविराम अशान्त कल्लोल क्रन्दन-सा लगता है।

हां, इस समय उन्हें यह क्रन्दन-सा ही प्रतीत हो रहा है।

निर्जन तट पर लल्ला तो कहीं भी नहीं है।

वे उत्तर की ओर चलने लगे।

पहले जाएंगे लल्ला के ग्राम में। फिर मद्रास। मद्रास में मैलापुर जाकर पार्थसारथी के मन्दिर में देखेंगे। फिर महाबलिपुरम और फिर कांजीवरम। लल्ला को ढूंढ निकाले बिना नहीं रहेंगे। उसके न मिलने से तो सारा जीवन ही मिथ्या हो जाएगा।

दिन का प्रथम प्रहर बीत रहा है। समुद्र नौकाओं से भर गया है। समुद्र की ओर देखते हुए ही चिन्तन करते जा रहे थे वे। एक विशाल यात्रीवाही नौका से कुछ लोगों ने हाथ ऊंचा करके नमस्कार किया। उन्हीं में एक गैरिकधारिणी प्रौढ़ा भी थी। उन्होंने पहचाना। पुरी से लौटते हुए, पार्थसारथी के दर्शन के लिए मद्रास

होगी। उन्हें देखते ही 'प्रभु' कहकर आगे बढ़ आएगी। पैरों से लिपटकर रोने लगेगी।

लौट आए। बोले, 'नहीं, कुड्डुमुनि। बड़ी अस्वस्ति लग रही है। समुद्र-स्नान सह्य नहीं होगा।'

कूप से जल खींचकर स्नान कर, पूजा-गृह में प्रवेश किया। कोठरी अब भी लल्ला की उपस्थिति के चिह्नों से मलिन है। बड़े यत्न से उन्होंने सारे कक्ष को साफ किया और पूजा का आयोजन करके पूजा पर बैठे। पर पूजा हो नहीं सकी। नेत्र मूंदते ही लल्ला दिखाई देती थी। एक दिन में ही लल्ला ने मानो अपने को शत-शत रूपों में उनके हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया था।

सजल नयन, म्लान-मुखी लल्ला क्लिष्ट श्यामलता-सी गोशाला का खूंटा थामे खड़ी है!···

लल्ला यन्त्रणा-कातर भयार्त्त मुख लिए पुआल के ढेर से निकल रही है!··· लल्ला वृश्चिक-विष से चेतनाहीन हुई ढुलकी पड़ी है!···

उनकी बांहों पर लल्ला!···

वरदराज के आगे लल्ला को लिटाकर वे कह रहे हैं, 'तुम्हारे ही चरणों में इसे समर्पित करता हूं, प्रभु!···'

तुम उसकी रक्षा नहीं कर सके, देवता!

हृदय को जैसे किसी ने मथ दिया। नेत्रों से जल की धार बह चली। अगले ही पल वे चौंक उठे। नेत्र खुलकर विस्फारित हो गए। मन में एक दूसरा ही प्रश्न जाग उठा। देवता ने तो उसे उन्हीं के हाथों में सौंप दिया था। देवता ने तो उसकी प्रतारणा नहीं की थी।

उफ्! लल्ला का वह मुख याद आ रहा है, वह दृष्टि याद आ रही है, जब अपने गले की माला उसके कण्ठ में पहनाते हुए कहा था, 'कामना मुझमें है, पर कामार्त्त पशु मैं नहीं हूं। लल्ला, मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकूंगा। यह माला पहनकर समुद्र की साक्षी में तुम्हें वरण कर रहा हूं— तुम मेरी पत्नी हो।'—उस समय का लल्ला का अपरूप, सुषमा-दीप्त, प्रसन्न, क्लान्त मुख नेत्रों के आगे घूम गया। पूजा की कोठरी में अभी लल्लादेह की गंध बसी है।

लल्ला, लल्ला, लल्ला! अंत:करण से लल्ला का आह्वान कर उठा उनका हृदय। लल्ला! लल्ला से उन्हें प्रेम है; उसे उन्होंने पत्नी-रूप में ग्रहण किया है। वरदराज की जिस प्रेरणा से, जिस इंगित से उन्होंने उस गान की रचना की थी— कृष्णचर्म के अन्तराल में जो देवता वास करते हैं, वही निवास करते हैं वैकुण्ठ में; जिन देवता का निवास वैकुण्ठ में है, वही कृष्णचर्म के अन्तराल में वास करते हैं— उसी प्रेरणा के वशीभूत होकर उन्होंने लल्ला को ग्रहण किया था। हृदय की जिस निष्कपट, अकृत्रिम, छलनाहीन कामना के पुण्य से नारी पूर्णता प्राप्त करती है

पुरुष में और पुरुष पूर्णता प्राप्त करता है नारी में, उसी अकृत्रिम, पवित्र कामना से कल उन्होंने उसे ग्रहण किया था। भूल'''भूल की है उन्होंने भागकर। भूल! पाप का प्रायश्चित्त होता है। भूल का संशोधन हुए बिना जीवन की क्षति पूर्ण नहीं होगी।

हे वरदराज—यह किस मति-भ्रान्ति से तुमने मुझे छला?

क्यों? क्यों? क्यों ऐसी भ्रान्ति हुई उन्हें? कल इतना बड़ा आघात पाकर भी वे विचलित नहीं हुए थे, असत्य नहीं बोले थे। किसी के भी भय से उपलब्ध सत्य को असत्य करके नहीं कहा था। पर अपने जीवन के चरम सत्य को किस प्रकार वे क्षणिक भ्रान्ति के वश में, सागरतट पर त्यागकर चोरों की भांति भाग आए?

वे आसन से उठ गए। फिर बैठ गए। प्रणाम करके कहा, 'सल्ला को लौटा लाने जाता हूं, प्रभु! सल्ला मेरे जीवन का चरम सत्य है। मैं उससे प्रेम करता हूं। उसे मैं तुम्हारे प्रसाद-स्वरूप ग्रहण करूंगा।'

घर से निकलकर समुद्र तट की ओर चले। प्रहरियों से कहा, 'समुद्र तट पर जा रहा हूं। तट के साथ-साथ मद्रास तक जाऊंगा। तुम लोग लौट जाओ।'

कुड्डुमुनि से कहा, 'घर खुला छोड़ जाता हूं। मेरे लौटने तक राह देखना।'

सागर तट पर आ खड़े हुए।

धूप में झिलमिला रहा है सागर-जल। धूप और धूप से उज्ज्वल सागर-जल की छटा से प्रदीप्त बेला-भूमि ऐसी लग रही है, मानो परम शुचिता से परिमार्जित, देवता का आगन हो। नारियल-सुपारी के तलवार-से तीखे, दीर्घ पत्र चमक रहे हैं। उनके आन्दोलन की सरसराहट सुनाई दे रही है। समुद्र का अविराम अश्रान्त कल्लोल क्रन्दन-सा लगता है।

हां, इस समय उन्हें यह क्रन्दन-सा ही प्रतीत हो रहा है।

निर्जन तट पर सल्ला तो कहीं भी नहीं है।

वे उत्तर की ओर चलने लगे।

पहले जाएंगे सल्ला के ग्राम में। फिर मद्रास। मद्रास में मैलापुर जाकर पार्थसारथी के मन्दिर में देखेंगे। फिर महाबलिपुरम और फिर कांजीवरम। सल्ला को ढूंढ़ निकाले बिना नहीं रहेंगे। उसके न मिलने से तो सारा जीवन ही मिथ्या हो जाएगा।

दिन का प्रथम प्रहर बीत रहा है। समुद्र नौकाओं से भर गया है। समुद्र की ओर देखते हुए ही चिन्तन करते जा रहे थे वे। एक विशाल यात्रीवाही नौका से कुछ लोगों ने हाथ ऊंचा करके नमस्कार किया। उन्हीं में एक गैरिकधारिणी प्रौढ़ा भी थी। उन्होंने पहचाना। पुरी से लौटते हुए, पार्थसारथी के दर्शन के लिए मद्रास

'मद्रास शहर में हमारे जो जवान रहते हैं, उनमें से दस को पकड़ा है आज सुबह। कुछ देर पहले ही यहां संवाद मिला है।'

एक आदमी बोला, 'ढोंग तो देखो ! जैसे कुछ जानता ही नहीं !'

एक और व्यक्ति ने कहा, 'हमारा मुख देखकर पहचानने के लिए आया है गांव में। पकड़ो, पकड़ो इसे ! बन्द कर दो कोठरी में। रात को···'

कोलाहल प्रबल हो उठा। कुछ लोग भाग गए। तब तक रंगनाथन का मनोबल लौट आया था। वे बोले, 'वरदराज की सौगन्ध, मैं कुछ भी नहीं जानता। सल्ला भी नहीं जानती। तुम लोग जानते हो, सल्ला कहां है? कहीं सन्देह में उसे बन्दी तो नहीं कर रखा है तुम लोगों ने? दुहाई है, सच-सच बताना।'

निर्भीकता आक्रमणकारी को केवल अप्रतिभ ही नहीं करती, कुछ पीछे भी हटा देती है। और इस निर्भीकता के साथ सहृदयता का सम्मिश्रण तो आक्रमणकारियों के विद्वेष को भी नष्ट कर देता है, उसके स्थान पर विस्मय जगाता है।

यही हुआ। वे लोग रंगनाथन की बातों से स्तब्ध होकर विस्मय से उनकी ओर देखने लगे।

रंगनाथन ने कहा, 'एक बात सत्य कहो। सल्ला कहां है? [redacted] स्वयं अभी कोतवाली जा रहा हूं। निश्चिन्त रहो, मैं मिथ्या भाषण नहीं करूंगा। वे लोग तुरन्त छूट जाएंगे। बताओ।'

एक प्रौढ़ ने आगे बढ़कर कहा, 'मेरी की शपथ आचार्य, हमें सल्ला का पता नहीं मालूम। मां की मृत्यु के बाद उसने तो ग्राम ही छोड़ दिया है।'

'आज? आज प्रातः? आज प्रातः नहीं आई वह?'

'नहीं, आचार्य। शपथपूर्वक कहता हूं। विश्वास कीजिए।'

रंगनाथन फिर नहीं रुके। मद्रास की ओर दौड़े।

यह कैसी बाधा ! यह कौन-सा विघ्न उन्हें विपरीत दिशा में लौटने को बाध्य कर रहा है ! सल्ला का सन्धान छोड़कर अब उन्हें कोतवाली जाना होगा। वहां पर कितनी देर रुकना होगा—कौन जाने ! सल्ला लज्जा के मारे, घृणा—उनके प्रति घृणा के मारे, जाने कहां, कितनी दूर जा निकली है ! उसे जाकर रोकना होगा, कहना होगा, सल्ला मेरी बुद्धि लौट आई है। लोक-लज्जा की भ्रान्ति दूर हो गई है, समाज का भय अब मुझे नहीं है। तुममें मैंने अपने जीवन की लालसा को नहीं—अपने प्रेम को पाया है। प्रेम के आगे सभी भ्रान्तियां तुच्छ हो जाती हैं। क्षमा करो। लौट चलो।

इस पथ में यह कैसी बाधा आ खड़ी हुई है !

•

कोतवाली में श्रीनिवासन उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इस बीच प्रहरी भी वहां

पहुंच चुके थे। कोतवाली के कर्मचारियों ने गुप्त छानबीन करके दस क्रिस्तानं-धवरों तथा पांच शैवों को पकड़ा था। शैव ये लोग नाम को ही थे। धार्मिक प्रवृत्ति का उनमें नाम भी न था—ऐसे ही दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति थे।

श्रीनिवासन के कक्ष के बाहर बरामदे में जोसेफ तथा एक पादरी बैठे थे। मैलापुर के शिव-मन्दिर के एक प्रतिनिधि भी थे, आचार्य चिदाम्बरम भी।

श्रीनिवासन ने पूछा, 'कहां गए थे, आचार्य ? प्रहरियों ने आकर बताया, आप प्रातः की पूजा से निवृत्त होते ही मद्रास के लिए रवाना हो गए थे।'

रंगनाथन की दृष्टि से प्रखरता फूट रही थी। लल्ला की कामना तथा अपनी हीनता उन्हें अधीर किये दे रही थी। एक उन्मत्त विद्रोह—अपने प्रति, समाज, धर्म, सब के विरुद्ध। कोतवाली के विरुद्ध भी, क्योंकि कोतवाली लल्ला को खोज रही है। मिथ्या सन्देह पर ही खोज रही है। जोसेफ के विरुद्ध विद्रोह, आचार्य चिदाम्बरम के विरुद्ध भी विद्रोह। सभी···सभी उनके इस दुःख के कारण हैं। इन्हीं के कारण वे लल्ला को छोड़कर, भीरु-प्रकृति, कुत्सित चोर की भांति भाग आए थे। बीच-बीच में एक प्रश्न भी जाग उठता है—एक नारी के लिए यह कैसी उन्मत्तता ! पर साथ ही यह उन्माद प्रबलतर होकर चीत्कार कर उठता है—हां, लल्ला के बिना मैं पागल हो जाऊंगा। अभी अर्द्धोन्मत्त हूं, अब पूर्णोन्मत्त हो जाऊंगा।

प्रखर कण्ठ से ही कहा रंगनाथन ने, 'आप राज-कर्मचारी हैं, अपने अधिकार-युक्त व्यक्तियों को राज-कर्म के प्रयोजन के अनुसार चलाने के अभ्यस्त। पर मानव-हृदय तो आपके प्रयोजन के अनुसार नहीं चलता। वरदराज की प्रेरणा से, अपने हृदय के आग्रह से खिंचकर मैं जोसेफ के साथ में गया था। वहां संवाद मिला कि आपने सन्देह में उस भाग के कुछ मद्रासवासी युवकों को पकड़ रखा है। कुछ शैवधर्मानुरागियों को भी पकड़ा है। संवाद पाते ही मैं दौड़ा आया हूं। मैंने आपसे कितनी बार कह दिया है, मैं किसी को भी पहचान नहीं पाया था, और मुझे सन्देह भी नहीं है किसी पर। तो फिर आप निरर्थक सन्देहवश क्यों···'

श्रीनिवासन ने बीच में ही बाधा दी, 'आचार्य रंगनाथन, देश के शासन के नियमों को मानने के लिए तो आप भी धर्मतः बाध्य हैं। नहीं ?'

रंगनाथन चुप हो गए। कुछ देर बाद बोले, 'ठीक है। कहिए, कहिए, मुझे क्या करना होगा ?'

'जिन्हें हमने सन्देह में पकड़ा है, उन्हें देखिए। अच्छी तरह से स्मरण करने की चेष्टा कीजिए, उनमें से किसी का उन आततायियों के साथ, आकार-प्रकार, या दृष्टिगत, किसी भी प्रकार का सादृश्य है क्या ?'

'चलिए।'

कोतवाली के पिछले भाग में कुछ खुला स्थान था। वहीं पर प्रहराधीन

बैठे व्यक्तियों में से कुछ को बुलाया गया। रंगनाथन उनके सामने आ खड़े हुए।

श्रीनिवासन ने कहा, 'भली-भांति देख लीजिए।'

रंगनाथन ने उनकी ओर देखा। मुख एक बार पीला पड़ गया, फिर कठिन हो आया, फिर अकारण ही उन्होंने सिर को झटका दिया : भिन्नान-गवरों को भली-भांति देखकर बोले, 'नहीं माननीय श्रीनिवासन, मुझे कहीं कोई सादृश्य नहीं दिखाई देता। मुझे विश्वास है, इनमें से कोई भी नहीं था।'

पल-भर में उन बन्दियों में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया। मुख पर स्मित हास्य फूट पड़ा—प्रसन्नता छा गई। उनकी दृष्टियों ने ऐसा कुछ कहा, जो रंगनाथन के लिए चिर-अविस्मरणीय हो गया।

श्रीनिवासन बोले, 'छोड़ दो इन लोगों को। आप उस ओर चलिए।'

कुछ दूर पर ही ख्रीष्टधर्मानुरागी खड़े थे। वहां भी यही घटना हुई।

रंगनाथन बोले, 'अब मुझे आज्ञा दीजिए। मैं चलूं।'

श्रीनिवासन बोले, 'आपने जान-बूझकर ही नहीं पहचाना, आचार्य।'

'जान-बूझकर ही नहीं पहचाना?' रंगनाथन ने मानो अपने-आपसे प्रश्न किया। फिर स्वयं ही बोले, 'नहीं।'

'अब मुझे दोष मत दीजिएगा कि अपराधी को पकड़ा नहीं।'

'ना। दिया नहीं, दूंगा भी नहीं। अब मैं चलूं राज-प्रतिनिधि, रुकने का समय नहीं है।'

'कहां जा रहे हैं?'

'मैं?' कुछ क्षण स्तब्ध रहकर बोले, 'यह तो मैं भी नहीं जानता। यह उद्देश्य-हीन यात्रा है, श्रीनिवासन। विस्मित न हो। वरदराज की प्रेरणा, और मेरे अपने हृदय का आग्रह मुझे इस प्रकार भटका रहा है।'

बाहर आते ही पादरी ने उठकर कहा, 'आप सत्यवादी हैं। धन्यवाद। ईश्वर आपका भला करेंगे।'

जोसेफ ने कहा, 'आचार्य रंगनाथन, आप पर मेरी श्रद्धा है। आज की बात हम कभी भी नहीं भूलेंगे।'

रंगनाथन के नेत्र पल-भर के लिए विस्फारित हो गए—वे मानो किसी विचार में मग्न हो गए। फिर बोले, 'एक अनुरोध करूं तुमसे?'

'कहिये, आचार्य। हम कृतघ्न नहीं हैं।'

'लल्ला यदि लौट आए, तो उससे कहना—मेरे लौटने तक मेरे घर में मेरी प्रतीक्षा करे। कहना, मेरे पूजा-गृह में वरदराज की जो छोटी-सी मूर्ति है—उसकी सेवा का अधिकार मैं उसी को दिए जाता हूं।'

'आचार्य!' प्रबल विस्मय से, अनेसाकृत उच्च कण्ठ से, चीत्कार कर उठा जोसेफ। समवेत जन-मण्डली के विस्मय का भी पार न रहा।

रंगनाथन के नेत्रों में अर्द्ध-विक्षिप्त व्यक्ति की-सी अस्वाभाविक दृष्टि थी। वे बोले, 'कल रात्रि वरदराज ने मुझे यही आदेश दिया है।'

'वरदराज ने आदेश दिया है।'

उस ओर से आचार्य चिदाम्बरम बोल उठे, 'हां, हां, दिया क्यों न होगा! सब काल की महिमा है! कलियुग ठहरा! हिन्दू-काल कब का बीत चुका। मुसलमान-काल में भी देवताओं ने कभी ऐसी इच्छा प्रकट नहीं की थी। अब श्वेतांग अंग्रेज आए हैं। अब भी यदि देवताओं को म्लेच्छाचार, अनाचार में रुचि न होगी, तो काल-महिमा कैसे प्रकट होगी? किन्तु आचार्य रंगनाथन, देवताओं का यह आदेश हम नहीं मानेंगे। देव-मूर्ति कलुषित होने पर हम उसे नदी या समुद्र में विसर्जित कर देते हैं। तुम भी अपनी इस कलुषित, अशुचि-अभिलाषी देव-मूर्त्ति समुद्र को अर्पित कर दो—नहीं तो तुम्हें हम क्षमा नहीं करेंगे। तुम आज से पतित, शवर-तुल्य हुए।'

रंगनाथन ने कहा, 'जय वरदराज स्वामी! अपना अमृत प्रसाद मुझे दो, प्रभु!'

कोतवाली से निकलकर वे पार्थसारथी की ओर चले।

मन्दिर में वे नहीं घुसे। जिस ओर भिक्षार्थियों का डेरा रहता था, वहीं जा खड़े हुए। पूछा, 'लल्ला को देखा है?'

'नहीं तो, प्रभु!'

मैलापुर में कपालीश्वर शिवमन्दिर के आस-पास के भिक्षार्थियों से भी यही प्रश्न किया, 'लल्ला···लल्ला कहां है, जानते हो?'

'नहीं तो!'

तो फिर चलूं महाबलिपुरम। राह चलते-चलते ही अचानक ख्याल आया, बिना पाथेय या धन के, एक ही वस्त्र में वे घर से निकल आए थे। कुछ पल थमकर रुके, पर फिर चलने लगे। यही ठीक है, यही उचित है। वस्त्र, धन आदि लाने के लिए लौटने में जितना समय लगेगा, उस बीच लल्ला न जाने कितनी दूर चली जाएगी। लल्ला के लिए उनका अधीर उन्माद पल-पल बढ़ता ही जा रहा है। धर्म नहीं, कर्तव्य नहीं, इससे भी बड़ा कुछ है। जीवन की तृष्णा—कोरी तृष्णा नहीं, अमृततृष्णा!

चलो महाबलिपुरम—

महाबलिपुरम में भी कहां है लल्ला? यहां तो आई नहीं!

चलो कांजीवरम—

कांज़ीवरम में भी कहां है लल्ला? यहां केवल इतना सुना—बहुत से यात्री तंजौर गए हैं। भिक्षुकों का दल भी गया है। वहां भारी उत्सव है।

चलो तंजौर।

एकमात्र वस्त्र धूलि-मलिन हो गया। मुखाकृति श्मश्रु-समाच्छन्न हो गई। छिन्न पादुकाएं फेंक देनी पड़ीं। उत्तरीय से भिक्षा की झोली तैयार की। नये स्वरों में नये गीत रचे, और उनके बल पर भिक्षा-जीवी जीवन व्यतीत करते हुए रंगनाथन आगे चलते रहे। जय वरदराज ! अमृत-प्रसाद दो ! हाय, कहां है अमृत-प्रसाद !

हाय, कहां है अमृत-प्रसाद !

अमृत शायद कपोल-कल्पना ही है। नहीं, एक बार उसका सौरभ पाया तो था। मुग्ध होकर पात्र अधरों तक भी लाए थे, पर फिर फेंककर चोरों की भांति भाग आए थे। वह फिर नहीं मिला। वह जीवन में स्यात् एक ही बार मिलता है। जो पान करता है, वह अमर हो जाता है; जो फेंक देता है, उसे फिर कभी नहीं मिलता। तृष्णार्त पृथ्वी उसे सोख लेती है, या धूप और पवन उसका पान कर धन्य होते हैं। रिक्त पात्र में फिर उस अमृत का बिन्दु भी नहीं मिलता। इस सत्य की उपलब्धि तब होती है, जब केवल शून्य पात्र ही हाथ में रह जाता है।

जीवन के इन कुछ वर्षों में यह बात कितनी बार रंगनाथन के हृदय में आई—इसकी कोई गणना नहीं है। तंजोर में यह बात याद आई, मदुरा में याद आई। प्रत्येक स्थान पर यही बात याद आई है। आज भी अपनी वीणा पर हाथ रखते-रखते यही बात याद आ गई।

चार वर्ष बीत चुके हैं इन चार वर्षों में उनके जीवन में अनेक परिवर्तन आ चुके हैं। सारा संसार मिथ्या है। तंजौर में उन्हें प्रताड़ित किया गया—मन्दिर के चबूतरे पर पग भी नहीं रख सके। उनके पहुंचने के पूर्व ही आचार्य चिदाम्बरम के दण्ड का संवाद मद्रास से पहुंच गया था। महाबलिपुरम पहुंचने तक यह संवाद वहां नहीं पहुंचा था। उस दिन मद्रास से महाबलिपुरम पहुंचने वाले वे प्रथम यात्री थे। वहां से कांजीवरम जाने में भी उन्होंने विलम्ब नहीं किया था। कांजीवरम से लौटते समय अवश्य उन्होंने राह में देर लगा दी थी। वे समुद्रतट के साथ-साथ लौटे थे। राह में तलाश करते चले थे कि किसी ने किसी किशोरी की मृत देह तो तट पर कहीं पड़ी नहीं देखी ? कुछ दिन बाद विचार आया—ना ! यह कार्य वह नहीं करेगी। उसके पिता उसे कह गए हैं—वह वरदराज का प्रसाद पाएगी। उसकी मां कह गई है, किसी देव-मन्दिर के बाहर की भूमि बुहारकर, गोपुरम के सामने खड़े होकर मधुर कण्ठ से वन्दना गाने से ही उसका जीवन चरितार्थ होगा। वह समुद्र में नहीं कूदेगी।

वे लौटकर इस बार फिर तंजौर गए।

अब तक वे पूरे भिक्षुक बन चुके थे।

गोपुरम के वाहर कांजीवरम से आया हुआ एक शैव पण्डा अपने साथ आंए हुए तीर्थ-यात्रियों को तंजौर के शिव-मन्दिर के पण्डों को सौंप रहा था। रंगनाथन को देखते ही वह क्रुद्ध हो उठा। 'वह व्यक्ति अपनी वरदराज की मूर्त्ति को क्रिस्तान' शवरों के हाथ सौंप आया है। स्वयं एक शवरी के सन्धान में दर-दर भटक रहा है। यह गायक है, पर क्या गाता है— जानते हो ? गाता है, कि शवरों और ब्राह्मणों में कोई भेद नहीं है। यह पाखण्डी है, पाखण्डी ! इसके प्रवेश से मन्दिर अपवित्र होगा।'

पर मन्दिर में उन्होंने प्रवेश ही नहीं किया। आवश्यकता भी नहीं थी। लल्ला होगी, तो मन्दिर के वाहर ही होगी। किन्तु फिर भी ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों ने भांति-भांति की व्यंग्योक्तियों से उन्हें अनेक प्रकार से लांछित किया। विद्रूप की मार सहते-सहते वे फिर एक वार टूट गए।

अव लल्ला के लिए इस प्रकार उन्मादी वनकर नहीं भटकेंगे। मद्रास लौट जाएंगे। रात्रि को वृक्ष के तले आश्रय लिया। हृदय अपनी असफलता पर सिर धुन रहा था। लल्ला ! लल्ला !

अगले दिन तंजौर त्यागकर मद्रास के पथ पर कुछ दूर वढ़कर फिर पलट पड़े थे। लल्ला के विना जीवित रहकर भी क्या होगा ! पर इसके वाद सन्धान की भी कोई शृंखला नहीं थी। ऐसे ही इधर-उधर भटने लगे। जिधर भी अधिक यात्री जाते दिखाई देते, उधर ही चल पड़ते। राह में जो भी स्थान पड़ता, वहीं उसे ढूंढ़ने लगते। गीत गा-गाकर भिक्षा मांगते, कुछ संचय होने पर फिर चल पड़ते।

इसी प्रकार आठ मास व्यतीत हो गए। तव तक वे प्रायः विक्षिप्त हो चले थे।

सारे देश में अराजकता फैली हुई थी। सारे हिंदू-मुसलमान राजवंश समुद्री झंझा में तटवर्ती नारियल वृक्षों की भांति एक-एक कर समूल उखड़ रहे थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर-जनरल लॉर्ड वेलेस्ली के भाई कर्नल वेलेस्ली ने तूफानी पराक्रम से मराठों, टीपू सुल्तान, और त्रिवांकुर की राज-शक्ति को एक-एक कर पराभूत कर डाला था। इधर पिंडारी, ठगों और चोर-डाकुओं से सारा देश भरा पड़ा था। इस दशा में, विक्षिप्त अवस्था में होने के कारण ही उनका इस प्रकार भटकना सम्भव हो सका था। देह की श्री पथ की धूल से ढक गई थी। मलिन-वेश-भूषा तथा कन्धे पर भिक्षा का झोला ही उनके लिए आत्म-रक्षा का कवच वन गया था। एक अस्त्र भी था—उनका गायन। श्रोता जो भी हो, उनके गीत सुनते ही उसके हृदय में करुणा उमड़ पड़ती थी।

फिर एक घटना घट गई। वे तव श्रीरंगम में थे। उसी अवस्था में वे गोदा देवी के उपाख्यान पर गीत रचकर, उसे गा-गाकर भिक्षा मांगते थे। यह उपाख्यान उन्हें वहुत ही प्रिय था। विष्णु-भक्त पेरियार-कन्या गोदा; स्वप्न में आदेश देकर श्री

रंगनाथस्वामी ने उससे विवाह किया था। इस कथा में उन्हें सल्ला की कथा के साथ कहीं साम्य मिला था। कभी-कभी ये सोचते, सल्ला अब नहीं है। उसने उन्हें वरदराज कहकर पुकारा था। वरदराज ने उसकी यह भूल मिटा दी है। रंगनाथन के माध्यम से ही उन्होंने इस भूल का आवरण नष्ट कर दिया है, और उसे अपने पास बुला लिया है। सल्ला भी गोदावरी की ही भांति इस नर-देह के बन्धन से मुक्त होकर, वरदराज के साथ मिलकर एकाकार हो गई है। वरदराज ही तो श्री रंगनाथन हैं। श्री रंगनाथस्वामी के विशाल मन्दिर के साथ-साथ बने चबूतरों के बीच उन्होंने पागलों की तरह उसे ढूंढ़ा है—सल्ला! सल्ला! सल्ला!

एक दिन एक व्यक्ति इन्हें बुलाने आया था, 'बाई साहब बुला रही हैं।'

क्रुद्ध भाव से ही इन्होंने पूछा था, 'कौन बाई साहब?'

पर नाम सुनते ही संभ्रम से मस्तक झुका लिया था। संगीतज्ञ होने के नाते यह नाम इनके लिए सुपरिचित था। विख्यात सरस्वती बाई—संगीतज्ञों की माता—मां। वे श्री रंगनाथस्वामी के दर्शनों को आई हैं। यहां दो बार इनका गायन सुना है, सुनकर बुलाया है।

पक्व केशी वृद्धा हैं सरस्वती बाई। उन्होंने इन्हें पुत्र कहकर ही सम्बोधित किया। पूछा, 'ऐसा गुण रहते भिक्षा क्यों मांगते हो?'

पहले तो रंगनाथन मौन ही रहे, पर धीरे-धीरे हृदय के उत्तप्त स्पर्श से विगलित होने लगे।

इनकी पीठ के मलिन वस्त्र पर परम स्नेह से हाथ रखकर उन्होंने पूछा, 'ईश्वर को ढूंढ़ते हो?'

ये अवाक्, उनका मुख देखते रहे।

उन्होंने कहा, 'वह क्या मिलते भी हैं, पुत्र? मैं तो नहीं जानती। मेरा जीवन तो···'

फिर कुछ क्षण चुप रहकर बोलीं, 'प्रारम्भिक जीवन में रूप और कण्ठ के कारण बिक गई थी। राजाओं का, सुल्तानों का मनोरंजन करके देखा—मनोरंजन किया तो जा सकता है, पर कुछ ही समय, या कुछ ही दिनों के लिए। सम्पत्ति मिलती है, पर मन नहीं मिलता। अब इस वयस में मूर्ति के दर्शन करने आई हूं, तो कोरे दर्शन ही मिलते हैं—और कुछ भी नहीं।'

फिर भी ये कुछ नहीं कह सके। अन्त में बोले, 'मैं किसी को खोज रहा हूं।'

'मनुष्य है वह?'

'हां।'

'नारी?'

'हां।'

'तुम्हारी पत्नी?'

'हां।'

'खो गई है?'

'हां।'

सरस्वती वाई ने कहा, 'पुत्र, ईश्वर होते, तो कहती, शायद मिल जाएं, पर उसके लिए कहती हूं, अव कभी भी नहीं मिलेगी।'

'नहीं मिलेगी?'

'नहीं। वह युवती होगी। देश में अराजकता फैली है। अराजकता न भी होती, तो वैसे भी पुरुषों में लम्पट, कामुक ही अधिक होते हैं। वे नर-भक्षकों से भी अधिक हिंस्र होते हैं। वह खो गई है, तो अव मिलेगी नहीं। अपनी ही वात याद आती है। कहा ना, मुझ में रूप भी था, कण्ठ भी, फलस्वरूप...'

'उसमें भी है।'

'तो फिर क्या वाकी है? वह या तो मर गई है, या वाजार में विक गई है। खोजते-खोजते शायद कभी दिखाई दे जाए, पर न वह तुम्हें पहचानेगी, न तुम उसे पहचानोगे; अगर पहचान पाओगे, तो आत्महत्या कर लोगे।'

रंगनाथन उन्मादी की भांति उठकर आने लगे थे, पर अम्मा ने उनका हाथ पकड़कर कहा, 'मैं मां हूं, वेटा! मेरी वात सुनो, जाओ मत। ऐसा कंठ है तुम्हारा, ऐसा गायन! राह में ऐसे ही भटक कर मर जाओगे, तो मुझे वड़ा कष्ट होगा। तुम कुछ गाकर मुझे सुनाओ।'

'नहीं गा सकूंगा, क्षमा कीजिए।'

वृद्धा ने कहा, 'तव सुनो, मैं ही गाती हूं।'

वे वीणा लेकर वैठ गईं। रंगनाथस्वामी का स्तोत्र गया—

पद्माधिराजे-गरुड़ाधिराजे विरञ्चिराजे गुरराजराजे—
त्रैलोक्यराजेऽखिललोकराजे श्रीरंगराजे रमतां मनो मे।
लक्ष्मीनिवासे जगतां निवासे उत्पन्नवासे रविविम्ववासे—
क्षीराब्धिवासे फणिभोगवासे श्रीरंगवासे रमतां मनो मे!

शांत, स्तब्ध हो गए थे रंगनाथन।

अम्मा ने कहा, 'तुम अस्वस्थ हो, कुछ दिन मेरे पास रहकर स्वस्थ हो लो।'

वे रह गए थे। अम्मा के परामर्श से ही उन्होंने कथा-गीत छोड़कर नए सिरे से दक्षिण-मार्ग संगीत का अध्ययन किया था।

चार मास वाद की घटना है। वे लोग तव पाण्डिचेरी में थे। दक्षिणापथ के उत्तरी भाग में तव भयंकर अव्यवस्था फैल चुकी थी। उसी की लहर दक्षिण तक आ पहुंची थी। भोंसले, सिन्धिया तथा होल्कर ने साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी, और वे दक्षिण की ओर अग्रसर हो रहे थे।

सरस्वती वाई महीशूर के अंतिम युद्ध के समय श्रीरंगपत्तन में थीं। उस रक्त-

पात तथा लूट-मार की स्मृति में वे व्याकुल हो उठीं। बोलीं, 'पुत्र, युद्धोन्मत्त मनुष्य राक्षस बन जाता है। चलो, पाण्डिचेरी शान्तिपूर्ण प्रांत है। वहीं चलो।'

पाण्डिचेरी में भी कुछ महीने वे अम्मा के ही पास रहे। उनके निकट नए सिरे से मार्ग-दर्शन का अध्ययन किया। उनका मन क्रमशः स्वस्थ होने लगा था। पाण्डिचेरी में कुछ सभाओं में गाकर उन्होंने ख्याति भी अर्जित की थी। पर अचानक ही एक दिन लल्ला की याद आ गई। लल्ला यदि इस बीच मद्रास लौट आई हो! कुछ दिनों में ही वे अस्थिर हो उठे।

एक दिन सरस्वती बाई से कहा, 'मुझे जाना ही होगा। मेरा मन कहता है, वह अब तक मद्रास लौट आई है।'

अम्मा ने भी बाधा नहीं दी।

एक दिन अम्मा से विदा लेकर पाण्डिचेरी से मद्रास लौट पड़े—स्थल-मार्ग से नहीं, जल-मार्ग से, बड़ी मालवाही नौका में। अम्मा ने उन्हें धन के साथ-साथ एक वीणा भी दी। कहा, 'मन को बांधो, बेटा। वह अब नहीं मिलेगी। इस दुनिया में खोना ही नियम है। मनुष्य सब कुछ गंवाने ही आता है। वह जीवित भी होगी, तो बदल चुकी होगी। पहले वाली वह अब नहीं मिलेगी।'

कुछ देर चुप रहकर फिर बोलीं, 'ईश्वर की खोज से रोकने का अधिकार मेरा नहीं है। स्वयं भी तो इस वृद्ध वयस में उसके अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं देख पाती हूं। फिर भी तुम्हें उस मार्ग पर चलने से रोकती हूं। तुम्हारे पास अमूल्य मूलधन है। यदि सदा उसी को भुनाकर काम चला सको, तो नयन-जल का आनंद तुम्हें मिलेगा।'

फिर कुछ देर मौन रहकर बोलीं, 'उसकी अपेक्षा तुम ईश्वर को ही ढूंढो। वह नहीं मिले, तो भी संसार रिक्त नहीं रहेगा। वे जीवन में ही नहीं, मरण में भी मिल सकते हैं।'

अम्मा ने उनके मुख की ओर देखा, फिर बोलीं, 'किन्तु, तुम क्या यहीं नहीं रह सकते, पुत्र? तुम शबरी को पत्नी-रूप में ग्रहण करना चाहते हो, तो क्या मुझे जननी-रूप में ग्रहण करके मेरे पास ही नहीं रह सकते? तुम्हें संपत्ति का प्रलोभन नहीं दूंगी। पर संगीत तो देव-दुर्लभ सम्पद है—वही दूंगी।'

रंगनायन ने कहा, 'अम्मा, सोच देखिए। रामचन्द्र बनवास को आए थे, और सीता को खो बैठे थे। बनवास के अन्त में सीता को लेकर ही लौटे थे। उन्हें लिए बिना क्या वे कौशल्या माता के पास लौट सकते थे? और लौटते भी, तो क्या कौशल्या माता उन्हें यह कहकर वापस नहीं लौटा देतीं, कि सीता को लेकर, तब आओ?'

सरस्वती बाई ने कहा, 'ठीक कहते हो, पुत्र। तुम जाओ। लल्ला को लेकर लौट आना। वह न मिले, तब भी लौट आना।'

मद्रास लौटते ही रंगनाथन की प्रथम भेंट हुई जोसेफ से।

जोसेफ ने पूछा, 'कहां गए थे, आचार्य ?'

'उसके संधान में।'

'लल्ला के ?'

'हां, जोसेफ। तुमसे सब सत्य कहूंगा। मैंने वरदराज का नाम लेकर समुद्र की साक्षी में उससे विवाह किया था। उसी रात्रि को, जिस दिन···'

संक्षेप में सारी बातें जोसेफ को कह सुनाईं। उन्होंने अन्त में कहा, 'मेरा अप-राध···मेरे ही अपराध से···' एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा उन्होंने।

जोसेफ ने विस्मय से पूछा, 'तुम शवर बन गए हो, रंगनाथन ?'

'नहीं जोसेफ, लल्ला को ग्रहण करके ब्राह्मणी बनाना चाहा था।'

जोसेफ ने कहा, 'हतभागिन है वह—हतभागिनी ! निर्बोध मेरे पास क्यों नहीं आई वह ?'

फिर प्रश्न किया, 'पर तुम अब क्या करोगे, रंगनाथन ?'

'कुछ सोचा ही नहीं।'

जोसेफ ने साग्रह कहा, 'एक बात कहूं, आचार्य ?'

'कहो।'

'तुम क्रिस्तान बनोगे ? बहुत ही सुन्दरी क्रिस्तान कन्या से तुम्हारा विवाह करा दूंगा। ब्राह्मण क्रिस्तान की कन्या से। पादरी भी मेरी बात मान जाएंगे।'

मुस्कुराकर रंगनाथन बोले, 'नहीं, जोसेफ। लल्ला—लल्ला के अतिरिक्त और किसी का मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं है। यह असंभव है, जोसेफ।'

जोसेफ कुछ क्षण चुप रहकर बोला, 'तो फिर मद्रास में मत रहो, रंगनाथन। यह बात खुली, तो···'

'उससे मैं लज्जित नहीं होऊंगा, जोसेफ। पतित तो मैं हूं ही।'

लज्जित वे सत्य ही नहीं हुए। मद्रास को उन्होंने अपने गायन से जीत लिया। अब कथा-गीत नहीं गाते थे। मार्ग-संगीत गाकर उन्होंने नये सिरे से अपनी विजय-पताका फहरा दी थी। अब वे मंदिरों में नहीं संगीत-विलासी व्यक्तियों के निमंत्रण पर केवल मनुष्यों के समारोहों में गाते थे। उनके अपूर्व संगीत से प्रभावित मनुष्य उनके पातित्य के ध्यान को हृदय में प्रश्रय ही नहीं देते थे। सभी कहते थे—रंग-नाथन ने पागल होकर संगीत में सिद्धि पाई है।

आचार्य चिदाम्बरम ने कहा था, 'तुम प्रायश्चित कर लो, रंगनाथन।'

रंगनाथन ने हंसकर कहा, 'क्षमा कीजिएगा, आचार्य।'

समाज से दूर वे अपने उसी सागर-तटवर्ती घर में रहने लगे। लल्ला की साधना में ही समय बिताएंगे। लल्ला की स्मृति ने उन्हें आच्छन्न कर रखा था।

पूर्णिमा की रात्रि को जब समुद्र में ज्वार का कोलाहल उठता, उन्हें लगता,

नारिकेल-वन की वायु में किसी नारी-कंठ की आकुल पुकार तैरती आ रही है।

प्रभु ! प्रभु ! वरदराज ! लल्ला के वरदराज !

वे उत्कर्ण होकर सुनते।

निरविच्छिन्न आह्वान आता ही रहता—आता ही रहता।

रंगनाथन उद्भ्रांत की भांति निकल पड़ते घर से। सागरतट की ओर चल देते। उच्च बालू भूमि पार कर नीचे तट पर उतरते। उसी नारिकेल वृक्ष-श्रेणी की दीर्घ छाया में, पूर्णिमा की ज्योत्स्ना के दुग्धधवल आलोक में चित्रित-विचित्रित बालुका-तट पर वे भटकते रहते। जोरों से पुकारते, लल्ला···लल्ला···मेरी जीवन लक्ष्मी, कहां हो तुम ?'

रात को भी अविश्रांत समुद्री विहंगों का दल ज्योत्स्ना में कलरव करता उड़ता रहता।

कितनी ही रातों को वे उसी नारिकेल-वृक्ष-युगल के तले सो जाते। भोर को जब निद्रा खुलती, पार्श्व में देखते—लल्ला नहीं है ! कुछ क्षण चुपचाप बैठे रहते, फिर उठते। घर लौटते और पूजागृह में बैठकर रोते।

पूजागृह में सभी कुछ है, बस, मूर्ति ही नहीं है। वरदराज की वह मूर्ति जब से चोरी गई है, उसका स्थान शून्य ही है। उसकी पूर्ति उन्होंने फिर नहीं की।

कभी-कभी प्रातः निद्रा टूटने पर भी उनका भ्रम दूर नहीं होता। वे उसी दिन की भांति सोचते—लल्ला उन्हें न पाकर चली गई होगी।

वे समुद्रतट के साथ साथ जोसेफ के ग्राम की ओर चल देते।

पल्ली के बालक-बालिका उन्हें देखकर व्यंग्य से हंसते। कहते, 'कहो आचार्य, लल्ला से मिलोगे ?'

'लल्ला ? कहां है वह ? कहां है ?'

'यहीं है, कल लौटी है।'

'बुलाओ। बुलाओ उसे ! आह !'

'पर वह तो आएगी नहीं।'

'क्यों ?'

'वह क्रिस्तान बन गई है। संसार के सर्वश्रेष्ठ शरणदाता की शरण में आ गई है। तुम अगर क्रिस्तान बन जाओ, तभी मिलेगी तुमसे।'

धीरे-धीरे उनकी स्वाभाविक चेतना लौटती। वे समझ जाते—ये लोग उनका मजाक उड़ा रहे हैं। विषण्ण चित्त से लौट आते।

कभी-कभी जोसेफ से भी भेंट हो जाती। वह ससंभ्रम अभिवादन करके कहता, 'आचार्य, फिर तुम कल रात को बाहर निकले थे ? पूर्णिमा में फिर चित्त-भ्रम हो गया था तुम्हें ?'

रंगनाथन कहते, 'हां, जोसेफ। कल गहन निद्रा में भी अचानक ही मानो

लल्ला की पुकार सुनाई दी थी। वार-वार सुनाई दी थी। भ्रम तो नहीं था।'

जोसेफ हृदय पर सलीब का चिह्न अंकित करके कहता, 'माता मेरी तुम्हारी रक्षा करें, आचार्य। प्रभु तुम पर दया करे। हो सकता है, यह भ्रम न हो, सत्य ही हो। तव लल्ला मर चुकी है। उसकी प्रेतात्मा ही तुम्हें पुकारकर समुद्रतट पर ले जाती है। वह चाहती है, तुम समुद्र में कूदकर आत्महत्या कर लो, ताकि तुम दोनों की आत्मा का मिलन हो जाए।'

चुप ही रहते रंगनाथन। सोचते—क्या यही सत्य है? मन कहता—नहीं। लल्ला यदि मर ही गई होगी, तव भी उन्हें आत्महत्या के लिए प्रलुब्ध नहीं करेगी। ना, यह कार्य वह कदपि नहीं कर सकती। वह तो कामना-लुब्ध नहीं थी। उसके हृदय में प्रेम था—केवल प्रेम। वह लास्यमयी भी नहीं थी। तभी तो उन्होंने उस का नाम कलावन्ती से वदलकर कल्याणी कर दिया था तव उसका श्यामवर्ण मुख कैसा उज्ज्वल हो उठा था!

कुछ मास पश्चात् उनकी भ्रांति क्रमशः क्षीण होते-होते मिट गई। पर रंगनाथन इससे प्रसन्न नहीं हुए। लगा, सव कुछ मानो शून्य में विलीन हो गया है। उस भ्रांति में वे लल्ला को खोकर भी मानो पाए हुए थे।

कितनी ही रातों में, इसी भ्रम के वश नारियल वृक्षों की छाया में चमकती किसी शीर्ण ज्योत्स्ना-रेखा को लल्ला समझकर वे उस ओर दौड़े हैं। वह नहीं मिली, तव भी भ्रम टूटा नहीं है। लगा है, लल्ला कौतुक या अभिमानवश इस घनी छाया में कहीं छिप गई है। वे खोजते रहे हैं। खोजते-खोजते क्लान्त होकर उसी नारियल-वृक्ष-युगल के तले आकर सो रहे हैं, सोचा है, कुछ देर में आकर वह उनके पास वैठ जाएगी। मृदु स्वर में पुकारेगी, 'मैं आ गई हूं प्रभु। मुझे क्षमा करो, मेरे वरद-राज, मैंने तुम्हें दुःख दिया है।' यही सोचते-सोचते उनकी आंख लग गई है। निद्रा के आवेश में ही अनुभव हुआ है, लल्ला उनके पार्श्व में सोई है। हाथ वढ़ाकर उन्होंने वृक्ष के तने को ही जकड़ लिया है, कि नींद टूट गई है।

उस मिथ्या भ्रम में भी वे मानो विरह-मिलन के परम आनन्दमय सत्य-लोक में वास कर रहे थे। कटु वास्तविकता उस आनंद-लोक में जाने कहां विलीन हो गई थी!

वहुत सोच-विचार के वाद उन्होंने निश्चय किया—अव फिर देव-मंदिरों के सामने वैठकर देवताओं को अपने गीत सुनाएंगे।

उसी दिन वे मद्रास छोड़कर कांजीवरम चल दिए। वहां वरदराज के मन्दिर के वाहर एक वृक्ष के तले वैठकर उन्होंने वीणा के संग भजन गाना आरंभ कर दिया—

मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्
मधुरतोऽपि मधुरं मधुरं मधुरम्।
मधुरं वदनं मधुरं वचनम्
मधुरं मधुरं कलेवरम्।
मधुरमधीरं निवकति मधुरम्
मधुरतोऽपि मधुरं पीताम्बरम्।
मधुरं चरणं चरणाभरणम्
मधुरं पुरः स्मितरतनम्।
मधुरं स्मितमेतदहो
प्रेक्षणं ननु मनोहरम्।

आत्मलीन होकर वे गा रहे थे। अन्य किसी भी ओर उनका ध्यान न था।

अचानक मंदिर से कांसे का घंटा, सिंगा और नगाड़ा लिए कुछ लोग निकले, और उन्हें घेरकर अपने वाद्य बजाने लगे। तब उनका ध्यान गया कि उनके चारों ओर अनेक श्रोता एकत्र हो गए थे। उन श्रोताओं के उस ओर मंदिर से आए हुए व्यक्तियों ने बाजे बजाना आरंभ कर दिया था।

उस कर्णभेदी नाद में वे अपना स्वर स्वयं ही नहीं सुन पा रहे थे। अपना गायन मध्य में ही बंद करना पड़ा उन्हें। समझ गए, पुरोहितों ने उन्हें क्षमा नहीं किया है। एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर वे उठ गए।

ना! देव-मंदिरों से वे निर्वासित हो चुके हैं। मंदिरों में देवता की कोई भी सत्ता नहीं होती। पुरोहित ही सर्वेसर्वा होते हैं। भूल! भूल हो गई थी उनसे।

वहां से आकर कांचीपुरम के पास ही खुले आकाश के नीचे रात्रि व्यतीत कर दी। और किसी का आश्रय नहीं लेंगे वे। वे पथिक हैं। संसार के प्रांगण में [illegible] हैं। पथ ही उनका आश्रय है।

नींद उन्हें आई नहीं। क्षुधा लगी थी—असह्य क्षुधा।

उसी अवस्था में वे आकाश की ओर देखे जा रहे थे, कि निकट ही कुछ व्यक्तियों की आहट पाकर शंकित हो उठे। इसी वरदराज के मंदिर में एक बार के कथा-गान की घटनाओं का स्मरण हो आया। गायन समाप्त करके जब नौका पर चढ़ने के लिए समुद्र की ओर जा रहे थे, तभी तो अज्ञात आततायियों ने उन पर प्रहार किया था, पूछा था, 'ऐसी गीत-रचना किसने सिखाई तुम्हें?'

आज भी क्या उसी घटना की पुनरावृत्ति होगी? उस दिन आततायियों को उन्होंने पहचान लिया था। वे लोग कौशिक के आदमी थे। [illegible] उन्होंने नई शिक्षा प्राप्त की है, उन्नति की है। वे लोग अब ब्राह्मणों को पतित कहने [illegible] हो उठते हैं। रंगनाथन ने तो उन पर उच्च वर्ण के अन्याय, अत्याचार से क्षुब्ध होकर उन्हीं की जयकार करनी चाही थी। पर वे लोग इसे मानते नहीं और

रंगनाथन पर प्रहार कर बैठे।

आज जो लोग आ रहे हैं, वे निस्संदेह पुरोहितों के दल के व्यक्ति हैं। उन्होंने इन्हें क्षमा नहीं किया है। इन्होंने ब्राह्मण होकर एक शबर-कन्या से प्रेम किया है, जोसेफ को उसे अपनी वरदराज की मूर्त्ति सौंपने का आदेश दिया है, इसीलिए वे लोग क्रोध से पागल हो उठे हैं। जब वापस मद्रास लौटकर इन्होंने मार्ग-संगीत द्वारा लोगों के हृदयों को जीत लिया था, सम्मान के साथ ही सम्पत्ति भी पाई थी, तो समझे थे, पुरोहितों के हृदय पर भी इन्हें विजय प्राप्त हो गई है। पर नहीं। वहां इन्हें विजय ही मिली। उन लोगों ने प्रायश्चित करवाना चाहा था, वह भी इन्होंने नहीं किया। इससे उनका आक्रोश और भी बढ़ गया। आज वरदराज के मंदिर के बाहर गीत गाने को इनकी चरम धृष्टता मानकर ये लोग इन्हें दंड देने आ रहे हैं।

ये स्थिर होकर बैठ गए। आने दो, जो भी आए।

वे लोग कुछ दूर पर ही रुक गए।

इन्होंने पूछा, 'कौन हो तुम लोग?'

'आप आचार्य रंगनाथन हैं?'

रंगनाथन हंसकर बोले, 'आचार्य हूं या नहीं, कह नहीं सकता, पर रंगनाथन मैं हूं।'

'मैं आपसे ही मिलने आई हूं।'

विस्मय से चौंक उठे रंगनाथन। यह तो नारी-कंठ है!

सांगोपांग वस्त्राच्छादित एक मूर्त्ति उनकी ओर बढ़ आई। उनके सामने वालुका पर नत-जानु होकर उसने चादर उतार दी और बोली, 'प्रणाम, आचार्य!'

उस दिन पूर्णिमा थी। परिपूर्ण ज्योत्स्ना से संसार जगमगा रहा था। उसी ज्योत्स्ना में रंगनाथन अवाक् होकर उसके मुख की ओर ताकते रह गए। कैसा अद्भुत रूप है! कृष्णांगी नहीं, गौरवर्णा है—अपरूप लावण्य से युक्त, पूर्णयौवना सुंदरी।

'तुम कौन हो?' रंगनाथन ने पूछा।

वह बोली, 'मैं सामान्या हूं। हेमाम्बा है मेरा नाम।'

हेमाम्बा! रंगनाथन के विस्मय की सीमा न रही। देवदासी श्रेष्ठा हेमाम्बा! बहुत पहले उसे देखा था रंगनाथन ने। तब देखा था, आलोकमाला से उज्ज्वल मंदिर में, नर्तकी के वेश में—अपूर्व प्रसाधनों से प्रसाधिता, अलंकारों तथा पुष्प-हारों से सज्जिता। आज की इस युवती की देह पर उन सब का चिह्न भी नहीं है। पर पहले से कहीं अधिक श्रीमयी दिखाई दे रही है। और फिर यह भुवनमय ज्योत्स्ना! इसके प्रकाश में सूर्य की दीप्ति नहीं है, उत्ताप नहीं है, पर एक अनोखा रहस्य-सा है। यह रूप का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं करती, वरन् एक रहस्यमयी-सी

कुहेलिका से अपरूप बना देती है। शुभ्र सौंदर्य पर भी एक प्रसाधन-सी शुभ्रता का और विलेप कर देती है। उनके हृदय में गूंज उठा—

'स्वर्णकमलवर्णाभां सुकोमलां सुलोचनां शुभ्रज्योत्स्नाविलेपितां अपरूपां मनोरमां···।'

सलज्ज हास्य के साथ हेमाम्बा बोली, 'आचार्य, आपको अपने घर ले चलने को आई हूं। जब पुरोहितों ने शृङ्गवाद्य, नगाड़े आदि बजाकर आपके गायन में बाधा दी थी, तब मैं भी एक चादर में अपने को छिपाए हुए, श्रोताओं के मध्य खड़ी आपका गीत सुन रही थी। मेरे नयनों से जल बह रहा था। आप जब गाना बंद करके उठकर चले गए, तब मुझे बड़ा दुःख हुआ था। समझ नहीं पाई, कांजीवरम में आप कहां जाएंगे, कहां आश्रय पाएंगे! एक अनुचर को आपके पीछे-पीछे भेजा था, आपका विश्राम-स्थल देखने के लिए। उसने बताया, आप नगर के बाहर, बालू-चर पर अपना उत्तरीय बिछाकर लेटे हैं—भूखे ही; क्योंकि उसने कहीं भी आपको कुछ खाते नहीं देखा था। इसीलिए मैं आई हूं, आचार्य। कुछ आहार्य भी लाई हूं। कृपया ग्रहण कीजिए, और दया करके रात्रि-अवस्थान के लिये मेरी कुटिया में पधारिए।'

अवाक् थे रंगनाथन। बोले, 'लाओ, आहार्य दो। सत्य ही बड़ी क्षुधा लगी थी मुझे। पर तुम्हारे घर में नहीं जाऊंगा, देवदासी श्रेष्ठा। उससे तुम पर विपत्ति आ सकती है।'

हेमाम्बा बोली, 'अब मैं देवदासी नहीं हूं, आचार्य। आपको संभवतः पता नहीं। एक रात्रि मंदिर से निकलते ही मेरा अपहरण कर लिया गया था—फिरंगी पल्टन के कुछ गोरों द्वारा। प्रातः कुछ लोगों ने मुझे नगर से कुछ कोस दूर अचेत अवस्था में पड़ा पाया था। तब से मैं देवदासी नहीं, गणिका हूं।'

हेमाम्बा ने मस्तक झुका लिया।

रंगनाथन ने कहा, 'पहले मुझे भोजन करने दो।'

हाथ पसार दिए उन्होंने। आहार के पश्चात् जल पान करके बोले, 'आह! आहार के बिना प्राण नहीं बचते। तुमने मुझे आहार नहीं प्राण दिए हैं।'

हेमाम्बा ने कहा, 'आप मेरे घर चलिए। मुझे पता है, आप श्रीरंगम में कई दिन अम्मा सरस्वतीबाई के साथ रहे हैं। वे आपसे मातृवत् स्नेह करती थीं।'

फिर कुछ मृदु स्वर में बोली, 'मैं जीवन-भर आपकी दासी बनकर रहूंगी, आचार्य। आप एक शबरी से प्रेम करके, उसे खोकर उद्भ्रांत-से हो रहे हैं—गृह-हीन वैरागी हो गए हैं। मैं उस शबरी से भी अधिक प्रेम करना जानती हूं, प्रभु। मैं केवल एक दिन के लिए नहीं, जीवन-भर के लिए आपको ले जाना चाहती हूं। मेरे पास अर्थ का अभाव नहीं है, प्रभु। मैं आपको साथ लेकर यह स्थान त्याग दूंगी। मद्रास जाने में संभवतः आपको लज्जा हो, हम पाण्डिचेरी चलेंगे, नहीं तो

कलकत्ता—जहां भी आप कहें।'

माटी की मूरत-से स्तब्ध बैठे रहे रंगनाथन।

'आचार्य !'

'देवी !'

'देवी नहीं, मैं हेमाम्वा हूं, आपकी दासी।'

'तुम्हारे अमृतमय वाक्य मधु से भी मधुर हैं, किंतु तुम मुझे क्षमा करो।'

कुछ पल मौन रहकर हेमाम्वा बोली, 'एक बात पूछूं, आचार्य ?'

'पूछो।'

'कृष्णांगी लल्ला क्या मुझसे भी अधिक रूप-गुणों की अधिकारिणी है ?'

'यह मैं नहीं कहता, देवी।'

'तो फिर ?'

'एक दिन समुद्रतट पर, आज जैसी ही पूर्णिमा की रात्रि को, उसने मुझसे कहा था, 'आप ही मेरे वरदराज हैं।' मैंने कहा था, 'यदि मैं तुम्हारा वरदराज हूं लल्ला, तो तुम मेरी लक्ष्मी हो, या फिर गोदा देवी, जिन्होंने लक्ष्मी होकर भी अनार्य कुल में जन्म लिया और फिर अपनी तपस्या के बल पर नारायण के पार्श्व में अपना अधिकार अर्जित किया, जिस पर वे आज भी प्रतिष्ठित हैं।'

'पर वह तो खो गई है, आचार्य।'

'मेरे हृदय में वह अक्षय है, हेमाम्वा। नहीं तो तुम्हारे आमंत्रण की उपेक्षा नहीं करता। इसे सिर-माथे पर लेता। वह मेरे लिए वरदराज का निर्माल्य है। मेरे जीवन में समा गई है वह। तुम मुझे क्षमा करो।'

हेमाम्वा कुछ पल नतमस्तक, चुपचाप बैठी रही। फिर प्रणाम करके उठी, और भोजन का पात्र उठाकर चली गई। रंगनाथन ने देखा, ज्योत्स्ना के आलोक में उसके कपोलों पर दो रेखाएं चमक रही थीं। रो रही थी हेमाम्वा !

उस दिन वे भी रोए थे, पर बाद में···

अगली ही भोर को वे मद्रास चल दिए।

पर कुछ दिनों में ही वहां कांजीवरम से एक विचित्र संवाद पहुंचा, जिसे लेकर मद्रास के उच्चवर्गीय समाज में परिहास तथा व्यंग्य की सीमा न रही।

रंगनाथन ने म्लेच्छ उच्छिष्टा देवदासी के हाथ का अन्न-जल ग्रहण किया है। उनकी उपाधि ही हो गई—'हेमाम्वा का जार', 'शबरी का प्रेमी।'

मद्रास के विशिष्ट व्यक्तियों की मजलिस में कभी गाने बैठते, तो गीत आरंभ होते ही कहीं से कोई पुकार उठता, 'जय लल्ला !' गीत समाप्त होते ही ध्वनि उठती, 'जय हेमाम्वा !'

निराश होकर अंत में एक दिन उन्होंने किसी प्रकार प्रयत्न करके अंग्रेजों के जहाज में स्थान जुटा लिया। कलकत्ता जाएँगे। वहां से उत्तर भारत का भ्रमण करेंगे।

उत्तर भारत में तीर्थ-यात्रा आरंभ की। पर वाराणसी, प्रयाग, अयोध्या और वृन्दावन के बाद और आगे न जा सके। समस्त उत्तरी भारत एक युद्धरोग में परिणत हो चुका था। केवल अयोध्या के नवाब के राज्य में कुछ शांति थी। कुछ दिन वृन्दावन रहे—राधा और कृष्ण के ध्यान में।

श्रीकृष्ण से भी बढ़कर राधा जी की महिमा है। जगत्पति, पुण्यावतार कृष्ण भी भी उनके अधीन थे—उनके चरण पकड़कर मान-भंजन किया था। पर फिर छोड़कर चले गए थे। जीवन-भर रोई थी राधा।

कुंज-कुंज में भटककर सुनते रुदनायन—वह क्रन्दन क्या अब भी सुनाई देता है? अपने जीवन का प्रतिरूप मिलता था इसमें। उनके निकट मन्ना और राधा के क्रन्दन में कोई अंतर नहीं था।

मानव-मन भी विचित्र है। एक दिन फिर उतावला हो उठा। दक्षिण की स्मृति ने फिर मस्तक उठाया। मद्रास! कौन जाने मन्ना इस बीच लौट आई हो! मन ही मन कितनी ही कल्पनाओं की रचना करते। मन्ना शायद कब घूमकर भटकती हुई, मराठों या निज़ाम के प्रांत में पहुंच गई हो—जहां निरंतर युद्ध चलता ही रहता है। चारों ओर फिरंगी सैनिक फैले हुए हैं। कहीं उन्होंने उसे पकड़ लिया हो, निर्मम अत्याचार किया हो। माल्यवान पर्वत-यात्रा के समय मिली उस शबरकन्या की याद आई। वह युवती—उन्नि—उसके पोर्टो-नोवो की कन्या! अत्याचार से पागल हो गई थी। दिन-रात चीखती रहती थी—'ना-ना-ना, छोड़, छोड़ दे, छोड़ दे! मार डाल, मुझे मार डाल!' मन्ना भी कहीं उन्नि की तरह पागल न हो गई हो। शायद इतने दिनों में अब वह फिर से स्वस्थ हो उठी हो, स्वस्थ होकर मद्रास लौट आई हो। जोसेफ ने अवश्य उससे सब कुछ कह दिया होगा। हो सकता है, उनकी बाट निहारती वह जोसेफ के साथ में ही बैठी हो।

सोचते-सोचते मन में यह विश्वास दृढ़ हो उठा। फिर एक रात वही स्वप्न देखा, और अगली सुबह ही उठकर मद्रास जाने का संकल्प कर लिया। वृन्दावन से लौटते हुए, मार्ग के नगरों की बड़ी-बड़ी सभाओं में गीत गा-गाकर धनोपार्जन करते गए, और कभी नौका पर, कभी किसी वाहन पर, तो कभी पैदल ही यात्रा करते हुए कलकत्ता आ पहुंचे। फिर फिरंगी जहाज में स्थान की व्यवस्था की। मद्रास जा रहे हैं, सो वहां से उतरते ही, जोसेफ के साथ के किसी व्यक्ति से तो भेंट होगी ही। उनमें से कई व्यक्ति बंदरगाह पर ही कार्य करते हैं।

पर जहाज पर जाते ही स्वयं जोसेफ से ही भेंट हो गई।

'जोसेफ !'

जोसेफ भी उन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह गया।

'तुम क्या मुझे ढूंढ़ने कलकत्ता आए हो? लल्ला लौट आई?'

जोसेफ मुस्कुरा दिया, एक विषण्ण-सी मुस्कान। बोला, 'उस अभागिन को तुम अब भी नहीं भुला सके, आचार्य?'

'कैसे भुला सकता हूं, जोसेफ? उसे मैंने सचमुच ही प्यार किया है। केवल समाज के भय से कुछेक पल के लिए विमूढ़ हो गया था उसी को लेकर इतना दुःख उठा रहा हूं। पर उसका दुःख, उसकी दुर्दशा कितनी भारी है, जरा सोचो तो। उफ्'''!'

दीर्घ निःश्वास के साथ जोसेफ ने उत्तर दिया, 'ना, आचार्य। वह तो लौटी नहीं है।'

'नहीं लौटी!' स्तम्भित हो गए रंगनाथन। इतना दृढ़ विश्वास, तीर्थ का स्वप्न—सभी मिथ्या हो गए। संसार में क्या सभी मिथ्या है? सत्य क्या कुछ भी नहीं है? हे वरदराज! हे श्री रंगनाथन प्रभु! हे एकाम्बरेश्वर! हे कन्याकुमारी! अनादिकाल से महेश्वर की कामना लेकर तुम जो तपस्या कर रही हो, क्या वह भी मिथ्या है?

'कहां जाओगे?'

'पता नहीं, जोसेफ। जैसे अब तक इधर-उधर भटकता रहा हूं, वैसे ही भटकूंगा। यों अभी कुछ दिन यहां रुकूंगा।'

'नहीं आचार्य, लौट ही चलो। मद्रास में हम तुम्हारे अभाव का अनुभव करते हैं। अब वहां कोई तुम्हारा विरोध नहीं करेगा। तुमने वाराणसी और वृन्दावन के मंदिरों में जो गीत गाए, उनकी प्रशंसा मद्रास तक पहुंच गई है। चलो, लौट चलो।'

रंगनाथन को बड़ा भला-सा लगा यह सुनकर। कुछ क्षण चुप रहकर बोले, 'आया तो इसीलिए था यहां। कंपनी के जहाज में मद्रास जाने की व्यवस्था भी कर ली थी। जोसेफ, वृन्दावन में मैंने स्वप्न देखा था—लल्ला मद्रास लौटकर तुम्हारे ग्राम में बैठी मेरी राह देख रही है। उसी विश्वास से, बड़ी आशा लेकर लौट रहा था।'

कुछ समय के मौन के बाद फिर बोले, 'तो फिर चलो।'

जोसेफ ने उनका हाथ थामकर कहा, 'मैं व्यवसायियों की पण्य-सामग्री लेकर बड़ी नौका में आया हूं। मैंने अपनी बड़ी मालवाही नौका बनवा ली है। यहां का माल लेकर कल ही प्रस्थान कर रहा हूं। तुम भी साथ ही चलो।'

उसी नौका में लौटे थे रंगनाथन। नौका बीच-बीच में तट पर विश्राम लेने को रुकती, फिर आगे बढ़ चलती। पानीय जल की, आहार इत्यादि की भी आवश्यकता होती ही रहती थी। इसलिए उस दिन पुरी के निकट रुकी थी नौका।

नीलमाधव की राजधानी है पुरी। समुद्र में ही मन्दिर के शिखर के दर्शन होते हैं। हठात् रंगनाथन का चित्त आलोड़ित हो उठा।

महातीर्थ जगन्नाथधाम! समग्र जनता का परम तीर्थ! शबर तो इन जगन्नाथ नीलमाधव के परम्पराश्रित हैं। शबरों की भी इन पर अगाध भक्ति है। इनकी सेवा के अधिकारी भी हैं वे। यहां महाप्रसाद में जातिभेद नहीं है, स्पृश्यास्पृश्य का विचार भी नहीं है। यहां सभी समान हैं—नितान्त समान। इसी चिन्तन में रंगनाथन के नेत्रों में जल भर आया। अनुताप हुआ—आज तक इन महाप्रभु, इन महान देवता को गीत नहीं सुनाया!

वे वीणा लेकर उठ खड़े हुए। बोले, 'मैं यहीं उतरूंगा, जोसेफ। जगन्नाथ को आज तक गीत नहीं सुना सका था। मैं उतरूंगा।'

जोसेफ हंसकर बोला, 'उतरेंगे आचार्य? पर मद्रास?'

'जाऊंगा, जाऊंगा। पर बाद में। अभी तो मुझे उतार दो।'

एक छोटी नौका मंगवा दी जोसेफ ने। बोला, 'मद्रास को मत भूलना।'

तब से रंगनायन यहीं रह रहे हैं। बड़ा अच्छा लगता है यहां।

पुजारियों की अनुमति से, जब प्रथम बार मन्दिर में गाने का अवसर मिला, तब वही गीत सुनाया था जिसके कारण कांजीवरम में उन्हें तिरस्कृत होना पड़ा था। वही गीत—'जिनका वास कृष्णवर्ण चर्म के अन्तराल में है, वही वैकुण्ठ में भी निवास करते हैं। श्वेत, पीत, गौर, श्याम—सभी प्रकार के चर्मों से आवृत देहों में उन्हीं का वास है। जीव में भी वही हैं, और जड़ में भी वही। वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही ब्राह्मण-पल्ली में भी हैं, और शबर-पल्ली में भी। उस कृष्णवर्ण चर्म के अन्तर में जो है, वही कहीं वरदराज, कहीं जगन्नाथ, कहीं श्रीरंगनाथन और कहीं रामेश्वर कहलाते हैं। वही काशी के विश्वनाथ हैं। कैलाश में जो भवानीपति के रूप में सुशोभित हैं, उन्होंने ही किरात-वेश में प्रकट होकर अर्जुन की पूजा की, उसकी अर्पित माला को ग्रहण किया था।'

चारों ओर से जय-ध्वनि उठी थी—जय जगन्नाथ! जय नीलमाधव! एक दिन में ही उन्होंने सभी की स्नेहभरी प्रशंसा अर्जित कर ली थी। हृदय उनका परिपूर्ण हो उठा था। उठकर आते समय प्रभु को प्रणाम करके कहा था, 'सान्त्वना तुम्हारे निकट ही मिलेगी मुझे। शेष जीवन यहीं बिता दूंगा।'

तब से यहीं रह गए हैं। शबर-पल्ली के पूर्व तथा पश्चिम में भी, चक्रतीर्थ के

साथ ही लगा हुआ झाऊ वृक्षों का घना वन है। उत्तर में नीलमाधव का मन्दिर है, और सामने वेला-भूमि के आगे, अविश्रान्त कल्लोल-रत समुद्र। इसी पल्ली में देख-भाल कर पूर्व की ओर के झाऊ वन में उन्होंने एक कुटीर बनवाया। छोटा-सा मनोरम कुटीर। एक बरामदा दक्षिण की ओर, एक पश्चिम की ओर। प्रातः उठकर पश्चिमी बरामदे में बैठकर, वीणा की झंकार के साथ भैरवी का आलाप छेड़ते हैं। संध्या को दर्शन के लिए मन्दिर चले जाते हैं। आरती के बाद प्रभु को प्रणाम करके लौटते हैं और दक्षिणी बरामदे में बैठकर समुद्र की ओर निहारते हुए, अपनी तरंग में संगीत-साधना करते रहते हैं। समुद्र के वक्षस्थल पर उद्वेलित तरंगों के शीर्ष बीच-बीच में विचित्र-सी दीपमाला से आलोकित हो उठते हैं। मन-ही-मन वे कहते हैं···यही अच्छा है···यही अच्छा है···

जप कोटिगुणं ध्यानं ध्यानकोटिगुणं लयः।
लयकोटि गुणं गानं गानात् परतरं नहि॥

इसी में उनका जीवन पूर्ण हो।

कभी-कभी निमन्त्रण भी आते हैं। देवदासियों के नृत्य देखने के लिए पुरोहित बुला भेजते हैं—'आज एक देवदासी मन्दिर में प्रभु के आगे नृत्य कर रही है। देखने का निमन्त्रण दिया है, आचार्य, पधारें।'

शेष समय व्यतीत होता है, शबर बालक-बालिकाओं के मध्य। पर वहां भी कभी अकस्मात् ही लल्ला उनके सम्मुख आ खड़ी होती है। कभी-कभी तो वे विभ्रान्त-से हो जाते हैं।

कभी लगता है, जगन्नाथदेव के मन्दिर में मणिवेदी के निकट, मूर्त्ति की ओट में ही खड़ी है लल्ला। तब सारा दिन विषण्णता से भर उठता है—रात्रि भी।

तब पुरी छोड़कर भुवनेश्वर को चल देते हैं।

विन्दु सरोवर के निकट जा बैठते हैं। सरोवर के बीच मन्दिर बना हुआ है। वैशाख में चन्दन-यात्रा के समय भगवान आकर उसी मन्दिर में निवास करते हैं। कभी-कभी रंगनाथन मन्दिर-मन्दिर भटकते रहते हैं। देवाधिदेव महादेवी के चत्वर पर बैठकर गीत सुनाते हैं।

कभी मन्दिर के प्राचीर पर उत्कीर्ण वृक्षों पर अपनी लीलायित देह का भार डाले झुकी किसी प्रतीक्षारत तरुणी की अनुकृति देखते हैं। उसमें भी उन्हें लल्ला की छाया दिखाई देती है।

कभी खण्डगिरि-उदयगिरि की यात्रा पर चल देते हैं। वहां चारों ओर गहन-गंभीर वन हैं। बाघों का, सर्पों का भय है। पर वे मानो भय को जीत चुके हैं। वहीं कहीं किसी गुफा में रह लेते हैं। अपराह्न होने पर लौट आते हैं।

कुछ दिन बाद, भुवनेश्वर में भी एक छोटा-सा कुटीर बना लिया। पुरीधाम में जब यात्रियों की भीड़ होती है, यहीं चले आते हैं। जन-समागम उन्हें नहीं

करके उठ खड़ी हुई।

रंगनाथन ने रुद्ध कण्ठ से पुकारा, 'मल्ला!'

'मैं कल्याणी हूं। अब चलती हूं, प्रभु।'

मल्ला चली जा रही है। कण्ठी यहीं पड़ी है। वे पाषाण-मूर्ति-से बैठे रहे।

अपने-आप ही नेत्र मुंद गए। भीतर-ही-भीतर जल छलछला रहा है। आर्त कण्ठ से पुकार उठे, 'कल्याणी!'

इस आह्वान पर संन्यासिनी रुके बिना न रह सकी।

रंगनाथन के नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही थी। आर्त स्वर में ही उन्होंने प्रश्न किया, 'पृथ्वी पर क्या सब कुछ मिथ्या है?'

संन्यासिनी सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकी। कुछ पल मानो उत्तर की आशा में ही आकाश की ओर देखती रही, फिर बोली, 'नहीं प्रभु, सब कुछ सत्य है। शाखा-वृन्तों पर फूटती कलियां भी सत्य हैं—विकसित पुष्प भी, और विगलित पुष्प भी। सब कुछ सत्य है। अब मैं चलूं।'

नयन मूंदे ही बैठे रहे रंगनाथन। नेत्र खोलने का साहस नहीं हुआ। केवल अंगुलियां थीं, कि वीणा के तारों को छेड़े जा रही थीं। पद-ध्वनि क्या क्रमशः लुप्त होती जा रही है?

अचानक ही सुध आई—यह क्या? यह क्या बजा रहे हैं वे?

एक क्षीण-सी हास्य-रेखा उनके अधरों पर खिल उठी।

यह तो वसन्त राग है!

झूठी है यह बात। जीवन में वसन्त राग केवल एक बार आता है। फिर वह सदा के लिए मिथ्या हो जाता है। केवल स्मृति रह जाती है। मल्ला मिथ्या हो गई है—सत्य रह गई है कल्याणी। ना, कल्याणी भी नहीं। सत्य है—एक तपस्विनी। उसे देखकर स्मृति-विभ्रम से ही वसन्त राग छेड़ दिया था अंगुलियों ने। बजने दो। नेत्र मूंदे ही बजाने लगे।

अचानक स्वर सुनाई दिया—'प्रभु!'

नेत्र खोले रंगनाथन ने। देखा, मल्ला लौटकर सामने खड़ी है। उसकी ओर देखा। वीणा पर वसन्त राग अविरत बज रहा था। रोका नहीं जा सकता। मल्ला बोली, 'यह माला—यह कण्ठी मुझे लौटा दीजिए, मृत मल्ला की आत्मा इसे वापस चाहती है। इसी में तो वह बंधी है, प्रभु।'

कण्ठी उठाकर वह लौट गई। वीणा के तारों पर वसन्त राग अकस्मात् ही मानो और अधिक जीवन्त हो उठा।

अब वह लल्ला नहीं है। वह समुद्र-जल में निश्चिह्न हो गई है। अब जो है—वह है तपस्विनी कल्याणी !

वह शवरी है। दूर से ही उसने विवाह के सभी अलंकारों से भूषिता, अपूर्व लावण्यमयी कन्याकुमारी के दर्शन किए हैं। दर्शन करके मुग्ध हो गई है। सारा सन्ताप मिट गया है उसका

वह माता जी के आश्रय में रहती है। आश्रम का कार्य करती है—सेवा-कार्य, उद्यान-कर्म आदि।

माता जी कहती हैं, 'अब तो तुम शवरी नहीं हो कल्याणी, ब्राह्मणी हो। तुम्हारे ब्राह्मण प्रियतम की माला है तुम्हारे कण्ठ में; आचार-आचरण भी पवित्र है तुम्हारा। तो फिर, इतनी दूर क्यों रहती हो ?'

लल्ला हंस देती है। सविनय कहती है, 'माता जी, आपकी करुणा ही मेरी सम्पदा है, मेरा ब्राह्मणत्व है। और कोई प्रलोभन मुझे नहीं है। मैं मनुष्य को नहीं चाहती माता जी, भगवान को चाहती हूं।'

माता जी ने कहा था, 'तुम तीर्थ-दर्शन करो, कल्याणी। तुम्हें भगवान की दया मिलेगी। परिपूर्ण हो जाओगी तुम।'

उसी यात्रा के प्रथम चरण में वह पुरी आई है, नीलमाधव के दर्शन करने। वरदराज और नीलमाधव में कोई अन्तर नहीं है।

दोल-यात्रा के अवसर पर नीलमाधव का दर्शन करके, वसन्तोत्सव के अवसर पर उनका अबीर-कुंकुम का प्रसाद पाकर वह धन्य हुई है। जीवन में मानव रंगनाथन द्वारा रिक्त स्थान को उन्होंने पूर्ण किया है। आज वह आई है, भुवनेश्वर के दर्शनों को।

यहां दूर से ही, बिन्दु-सरोवर के तट पर उस पुष्पित माधवी लता के नीचे रंगनाथन को बैठे देखकर एक बार तो अवश, पंगु-सी हो उठी थी, फिर आत्म-संवरण करके धीरे-धीरे बढ़कर निकट जा पहुंची थी। आज उसकी तपस्या पूर्ण होगी। रंगनाथन के सम्मुख आज अपने हृदय के द्वार बन्द करके वह विदा लेगी। कहेगी, 'तुम्हें नीलमाधव के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित किया है। अब और स्थान नहीं है।'

यही कहने के लिए वह नत-जानु होकर बैठी। प्रणाम करके बोली, 'प्रभु, संन्यासिनी ने अचेत लल्ला को समुद्र से निकाल लिया था, पर वह बच नहीं पाई। मर गई है। मैं लल्ला नहीं, कल्याणी हूं। पर लल्ला मरते समय यह मुझे संभला गई थी। आप लल्ला के प्रियतम हैं। यह आपको ही सौंप देने को कह गई है।'

कहकर उसने गले की कण्ठी उतारकर उनके चरणों में रख दी, और प्रणाम

करके उठ खड़ी हुई।

रंगनाथन ने रुद्ध कण्ठ से पुकारा, 'सल्ला !'

'मैं कल्याणी हूं। अब चलती हूं, प्रभु।'

सल्ला चली जा रही है। कण्ठी यहीं पड़ी है। वे पाषाण-मूर्ति-से बैठे रहे।

अपने-आप ही नेत्र मुंद गए। भीतर-ही-भीतर जल छलछला रहा है। आर्त कण्ठ से पुकार उठे, 'कल्याणी !'

इस आह्वान पर संन्यासिनी रुके बिना न रह सकी।

रंगनाथन के नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही थी। आर्त स्वर में ही उन्होंने प्रश्न किया, 'पृथ्वी पर क्या सब कुछ मिथ्या है ?'

संन्यासिनी सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकी। कुछ पल मानो उत्तर की आशा में ही आकाश की ओर देखती रही, फिर बोली, 'नहीं प्रभु, सब कुछ सत्य है। शाखा-वृन्तों पर फूटती कलियां भी सत्य हैं—विकसित पुष्प भी, और विगलित पुष्प भी। सब कुछ सत्य है। अब मैं चलूं।'

नयन मूंदे ही बैठे रहे रंगनाथन। नेत्र खोलने का साहस नहीं हुआ। केवल अंगुलियां थीं, कि वीणा के तारों को छेड़े जा रही थीं। पद-ध्वनि क्या क्रमशः लुप्त होती जा रही है ?

अचानक ही सुध आई—यह क्या ? यह क्या बजा रहे हैं वे ?

एक क्षीण-सी हास्य-रेखा उनके अधरों पर खिल उठी।

यह तो वसन्त राग है।

झूठी है यह बात। जीवन में वसन्त राग केवल एक बार आता है। फिर वह सदा के लिए मिथ्या हो जाता है। केवल स्मृति रह जाती है। सल्ला मिथ्या हो गई है—सत्य रह गई है कल्याणी। ना, कल्याणी भी नहीं। सत्य है—एक तपस्विनी। उसे देखकर स्मृति-विभ्रम से ही वसन्त राग छेड़ दिया था अंगुलियों ने। बजने दो। नेत्र मूंदे ही बजाने लगे।

अचानक स्वर सुनाई दिया—'प्रभु !'

नेत्र खोले रंगनाथन ने। देखा, सल्ला लौटकर सामने खड़ी है। उसकी ओर देखा। वीणा पर वसन्त राग अविरत बज रहा था। रोका नहीं जा सकता। सल्ला बोली, 'यह माला—यह कण्ठी मुझे लौटा दीजिए, मृत सल्ला की आत्मा इसे वापस चाहती है। इसी में तो वह बंधी है, प्रभु।'

कण्ठी उठाकर वह लौट गई। वीणा के तारों पर वसन्त राग अकस्मात् ही मानो और अधिक जीवन्त हो उठा।